स्त्रियों की पराधीनता ।

इंग्लैंड के प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता

जॉन स्टुअर्ट मिल की विख्यात पुस्तक

"THE SUBJECTION OF WOMEN"

का हिन्दी अनुवाद ।

अनुवादक :—

शिवनारायण द्विवेदी ।

प्रकाशक

हरिदास एण्ड कम्पनी

कलकत्ता,

२०१ हरिसन रोड के "नरसिंह प्रेस" में

बाबू रामप्रताप भार्गव द्वारा मुद्रित ।

प्रथम बार सन् १९१७ ई० मूल्य १।)

"If slavery is not wrong : nothing is wrong."

Abraham Lincoln.

* * * *

If you begin by educating women you must end by emancipating them.

* * * *

A man of virtuous soul commands not, nor obeys.

* * * *

' No man ever lived a right life who had not been chastened by a woman's love, strengthened by her courage and guided by her discretion. *Ruskin.*

* * * *

"गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः"

* * * *

"तातस्य कूपोयमिति ब्रुवाणा क्षारं जलं कापुरुषा पिबन्ति ।"

* * * *

"हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः"

* *

"प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः,
प्रारभ्य विघ्नविहिता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः,
प्रारभ्यमुत्तमजना न परित्यजन्ति ॥" (भर्तृहरि)

"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।" (मनु)

भूमिका।

विश्व-विजयी सम्राट् नेपोलियन ने एक अवसर पर कहा था कि, "जो कुछ प्राचीनता की ओट में आजाता है, लोग उसे अन्याय होने पर भी न्याय ही कहा करते हैं," यह बात मुर्दा रीति-रिवाजों 'और आचार-विचारों के लिए अक्षरशः सत्य है। जो जाति सुधार की धारा से दूर रहती है उसकी निर्बलता उसे मौत की ओर ही घसीटती है। संसार में कोई समय ऐसा नहीं आता जब मनुष्य अपनी दशा समान ही रख सके ; या तो उसे संसार के प्रवाह में पड़ कर आगे बढ़ना होगा और या आगे बढ़ने वालों की ठोकरों से कुचल कर मौत का निवाला बनना होगा। यह प्रकृति का नियम है कि, विश्व में योग्यतम की जीत होगी ; और अयोग्य केवल इस श्रेणी वाले व्यक्तियों की दया पर जीवित रहेंगे। अयोग्यों को अपने जीवन से कुछ भी

लाभ नहीं हो सकता, क्योंकि वे योग्य व्यक्तियों के हाथ के खिलौने होते हैं। और इस अयोग्यता की सबसे पहली पहचान यही है कि, जो अपनी उत्पत्ति ख़ास नारायण की नाभि से सिद्ध करने में तो ज़मीन आसमान के क़ुलावे मिलादें, किन्तु व्यावहारिक जीवन में अणुमात्र सुविधा न होते हुए भी इस ओर से निपट निरंजन बने रहें। यद्यपि अपनी प्राचीनता का गर्व बुरा नहीं है, फिर भी 'अति सर्वत्र वर्जयेत्'। हमारे हिन्दू-समाज में प्राचीनता का रोग बड़ा ही बुरा पैठा है। हमारी यह मामूली आदत है कि हम जो कुछ देखते हैं, जो कुछ सुनते हैं, जो कुछ विचारते हैं—उस सब में अपनी आँखों पर प्राचीनता का चश्मा चढ़ाये रहते हैं। हम किसी बात को देखने, सुनने और जानने से पहले ही अपनी प्राचीनता को आगे रक्खे रहते हैं: यदि उसके किसी अंश से हमारी प्राचीनता का कोई भाग सिद्ध होता है तब तो हमारे आनन्द की सीमा नहीं रहती और यदि उसका मत विपक्ष में हुआ तो एकादशी करते हुए भी कोसना तो हमारे ही हिस्से में है। हम अपनी बड़ी रूढ़ियों को तो क्या छोटी-मोटी को भी लाभ ही की दृष्टि से देखते हैं; उसका त्याग करना हमारे लिए हिमालय लाँघना है। "यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं नाचरणीयं नाकरणीयम्" यही तो हिन्दू-समाज की पुरानी और परम प्यारी चीज़ है। किन्तु इस जीते-जागते संसार में हमारी इस गलग्रह वाली नीति

का कौनसा स्थान हो सकता है? हम ऐसे लकीर के फ़कीर बन कर संसार में कितने दिन सिसकते रहेंगे? "स्वधर्मे निधनं श्रेयः पर धर्मो भयावहः" हमारा यह बड़ा भारी डर हमारे हृदय का पिंड किस दिन छोड़ेगा? रूढ़ियों से जकड़े हुए मनुष्य दोही प्रकार से जीते रह सकते हैं, या तो वे इतने सशक्त हों कि जिससे दूसरों को अपने हाथ का खिलौना बना सकें और या मोल लिये हुए गुलामों की तरह सशक्त व्यक्ति की चरण-सेवा भक्तिपुरस्सर किया करें। इन दो प्रकार की जीवनियों के अलावा रूढ़ियों से जकड़े हुए व्यक्तियों की और कोई जीवनी नहीं हो सकती। किन्तु ये दोनों दशाएँ 'उन्नति' शब्द का अपवाद है। इस नियम में हृदय और मस्तिष्क की शक्तियों में बड़ा भारी अन्तर है, अर्थात् इस नियम में मस्तिष्क की शक्ति हृदय की शक्ति के क़ाबू में है—किन्तु वास्तविक स्थिति होनी वह चाहिए जिस में दोनों समान हों। न कोई किसी का मालिक बने और न किसी को गुलाम बनना चाहिए "A man of virtuous soul commands not, nor obeys." यही स्थिति उन्नति का पहला सोपान है। किन्तु रूढ़ि का राज्य तो इससे बहुत दूर है। जिस समाज का ध्येय यह न हो कि, 'हम सदैव असत्मार्ग का त्याग करते रहेंगे और उपकारी नियमों को पालन करना सीखेंगे,' वहाँ सर्वोच्च "समानता" वाली स्थिति का आना ही असम्भव है। दुर्भाग्य से हमारे समाज का हृदय, मन और आत्मा तक

रूढ़ियों में सना है; हमारे जीवन का कोई भाग स्वाधीन नहीं, हम आकण्ठ रूढ़िमग्न हैं। चीन देश की पुरानी प्रथा के अनुसार जैसे स्त्रियों को लोहे के जूते पहना कर उनके पाँव छोटे कर डाले जाते थे, वैसे ही हिन्दू-सन्तान को जन्म से ही रूढ़ियों का जामा पहनाया जाता है जिससे उसके हृदय और आत्मा के विकाश पर घना काला परदा गिर जाता है। पथरीली ज़मीन पर उगे हुए वृक्षों की जड़ों के प्रयास जैसे व्यर्थ जाते हैं और वे सिर पटक कर भी वृक्ष को पानी की बूँदें नहीं नसीब करा सकतीं,—इसी प्रकार हिन्दू-समाज के कुछ उन्नतमना पुरुषों के प्रयास सर्वथा व्यर्थ जाते हैं। रूढ़ि रूपी पत्थर उन्हें जलकणों से नहीं मिलने देते, जिससे वे समाज रूपी वृक्ष को हरा भरा कर सकें। समाज का एक स्थान पर ठहरना ही उसका अवसान है, यही बात दूसरे शब्दों में यों कही जा सकती है कि लोग जिसे पूर्ण शान्ति कहते हैं, वह मृत्यु है। आज हिन्दू-समाज की भावनाएँ एक आलसी के हवाई महलों से अधिक क़ीमती नहीं है। एक उडाज-खाज पुत्र जैसे अपने पिता की सम्पत्ति बरबाद करके पाँच आदमियों में अपने उन दिनों का बखान करता है, तथा उसकी बातों का जितना मूल्य हो सकता है—आज के हिन्दू-समाज का और उसकी बातों का उससे अधिक मूल्य नहीं हो सकता। जिस घड़ी की नियमित कूक चौबीस घण्टों की होती है—उसकी चाबी का समय बीत जाने पर जैसे

उस की चाल बेसुरी हो जाती है,—आज हिन्दू-समाज की आवाज़ उस चाबी-बीती हुई घड़ी से अधिक नहीं है। यह निश्चित है, ध्रुव है, कि हम सर्वाङ्गसुधार के बिना अब जीवित नहीं रह सकते। या तो हमें समय का साथ देना होगा अन्यथा कुचले जाने से हम नहीं बच सकते।

सुधार की आवाज़ हमारे समाज से निकलने लगी है, पर अभी जिस परिमाण से उसमें शीघ्रता आनी चाहिए उसका सौवाँ हिस्सा भी नहीं है। कुलीनता और वर्ण-भेद की ठसक अभी हम में जमी है, जन्म के कारण अस्पृश्य और नीच अभी हमारे यहाँ माने जाते हैं, गुण-कर्म अभी हमारे यहाँ परमात्मा के ठेकेदारों के ही हाथों में है, धन्धों और व्यवसायों में हमारे यहाँ ऊँच-नीच का डंका बजता है। तत्त्ववेत्ता मिल के शब्दों में ये बातें सुधार के पहले अंग में ही उठ जानी चाहिएँ थीं, क्योंकि इनकी उत्पत्ति 'लाठी उसकी भैंस' वाले ज़बर्दस्ती के नियम पर हुई है। दूसरे शब्दों में जिसे अन्याय कहते हैं वही इस प्रकार की ऊँच-नीच की उत्पत्ति का स्थान है। निर्बल या अधीनस्थ वर्ग का कोई क़ानून या नियम नहीं हुआ करता, बल्कि सशक्त या विजेता लोगों की इच्छा ही उनके लिए क़ानून होती है। जिस समय राज्य की सत्ता ताक़त पर चलती है, उस समय सत्ताधीशवर्ग की इच्छा ही उनके अधीनों के लिए नियम बनती है, फिर चाहे वे शूद्र हों, अस्पृश्य हों, दास हों, स्त्रियाँ हों या विजित

देश के निवासी हों—सब के लिए वही नियम होता है। जिस समय आर्य कहाने वाले लोगों के हाथ में सत्ता थी उस समय उन्होंने अनार्यों के साथ खूब ही मनमानी की थी। उनके शेषांश शूद्र और अस्पृश्य वर्ग हैं। जब इस प्राथमिक सुधार में ही हमारे समाज की यह दशा है तब हम उसकी गति को अतिमन्द कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी। इस दशा में 'स्त्रियों की पराधीनता' वाला प्रश्न इस समाज में उठाना—नीचे खड़े हुए को हिमालय की एवरेस्ट चोटी की ओर दिखाने से बढ़कर मूल्य वाला नहीं हो सकता। अत्यन्त निर्बल रोगी जैसे घी के पाक को हज़म नहीं कर सकता—स्त्रियों की पराधीनता के विषय में हिन्दू-समाज से हमें उतनी ही आशा है। किन्तु हमारा सब उत्साह युवक-समाज पर अवलम्बित है, उसी से आशा है और उसी के लिए यह काम है।

हमने स्त्रियों की स्वाधीनता का बुरी तरह से नाश किया है। हमारा धर्म यही है कि स्त्रियाँ स्वाधीन न हों, 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' (मनु० अ० ९, श्लो० ३,) 'न भजेत् स्त्री स्वातन्त्र्यं' (मनु० अ० ५, श्लो० १४८) 'स्वातन्त्र्यं न क्वचित् स्त्रियः' (याज्ञवल्क्य० अ० १, श्लो० ८५) आदि हमारे शास्त्रीय वचनों में स्त्रियों की स्वाधीनता का पूर्ण अभाव है। 'ढोल गँवार शूद्र पशु नारी+ये सब ताड़न के अधिकारी' (तुलसीदास)। इतना ही नहीं, स्त्रियों की पराधीनता हमारे यहाँ बेहद है।

"सप्तवर्षाभवेत्गौरी……"(शीघ्रबोध) आदि से हमने इस बात को धर्म का अङ्ग भी बना डाला कि सात, नौ या ग्यारह वर्ष की आयु में उनका विवाह होही जाय। अपनी नाबालिग़ सन्तान का, धर्मका नाम लेकर, इस तरह जीवन भ्रष्ट करना किसी समाज के अच्छेपन की निशानी होही नहीं सकती। फिर विवाहित हिन्दू स्त्री की जैसी मिट्टी पलीत की गई है—वह वर्णनातीत है। हिन्दू स्त्री पति की आजीवन क्रीतदास है, और क्रीतदास से अधिकता यह है कि वह धर्म, शास्त्र और समाज की चक्की में ऐसी कुचली गई है कि उसमें स्वाधीन मन, स्वाधीन हृदय और स्वाधीन मस्तिष्क का कुचला बनाया गया है। सम्पूर्ण हिन्दू-शास्त्र स्त्रियों को एक स्वर से पति-भक्ति, पतिनिष्ठा, पतिसेवा, पतिपरमात्मा, पतिदेवता, पतिसर्वस्व का पाठ पढ़ाते हैं; उन्हें पतिपरायणा या पतिमयी बनाते हैं। दूसरी ओर, ये शास्त्र पतियों को स्त्रियों का आदर करना भी सिखाते हैं; किन्तु एक तो वे स्वाधीन हैं, दूसरे स्त्रियों की सत्ता के स्वामी हैं, तीसरे स्त्रियों के लिए ऐसे शास्त्र निर्माण करने वाले भी इसी वर्ग वाले है—इसलिए हमारे समाज में पुरुष-वर्ग वाला प्रत्येक व्यक्ति अपने आप को उन अंकुशों की दाब में नहीं समझता। किन्तु स्त्रियों से मनसावाचाकर्मणा पतिभक्ति का बोझ ढुवाया जाता है। यह अन्याय तभी दूर हो सकता है जब स्त्रियों को भी वे ही अधिकार प्राप्त हों जो पुरुषों को हैं। अन्यथा इस अन्याय का प्रतीकार और किसी प्रकार से होही नहीं सकता।

इस प्रकार हिन्दू-धर्म्मशास्त्रों के अनुसार, हिन्दू नीतिके अनुसार और प्रचलित हिन्दू-गृहस्थ-व्यवहार के अनुसार यदि स्त्रियों के दुर्भाग्य का चित्र खींचा जाय तो सैंकड़ों पृष्ठों में भी उसका पूरा होना सम्भव नहीं। स्त्रियों के विषय में प्रचलित छोटी-मोटी कुरीतियों की तो संख्या ही सैकड़ों पर है। स्वयं हमारी जाति में ठहरौनी की प्रथा प्रचलित है, जिसमें कुलीन मातापिता लड़की के मातापिता से ठहरा कर धन लेते हैं। सती स्नेहलता के समान अनेक देवियां इस प्रथा पर बलि हो चुकीं, पर अब भी यह प्रचलित है—इससे बढ़ कर रूढ़ि की उपासकता का और क्या उदाहरण होगा? हमारे देश के वैश्य-समाज और विशेष कर जैन-समाज में रुपयों से ख़रीद कर ही लड़कों का ब्याह किया जाता है,—उक्त दोनों समाजों में ऐसे हज़ारों व्यक्तियों की तादाद है, जो आजीवन इसी असंगतता के कारण अविवाहित रहे हैं। एक ओर मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट में ऐसे अंकों की संख्या हज़ारों हैं जिनमें एक वर्ष के बालक बालिकाओं का विवाह हुआ है। ऐसी सैंकड़ों मोटी-मोटी कुरीतियां हैं। इन सब दुर्गुणों से घिर कर हिन्दू-गृहस्थों का व्यक्तिगत जीवन आनन्दप्रद होना असम्भव है। ऐसी स्थितियों से घिरे हुए हिन्दुओं का जीवन सुधरना नामुमकिन है।

इन सब कुरीतियों की गठरी अपने सिर पर लादे हुए हिन्दू-समाज उन्नति की ओर अग्रसर नहीं हो सकता।

जिनका घर सुधरा हुआ नहीं उनके लिये बाहर कुछ सुधर ही नहीं सकता। उनके सभी क्षेत्र संकुचित होंगे—फिर चाहे वे सामाजिक हों या राजनैतिक। हम यह नहीं कह सकते कि राजनैतिक सुधार होने पर सामाजिक सुधार हुआ करते हैं या सामाजिक होने पर राजनैतिक,—किन्तु यह बात निश्चित और ध्रुव है कि एक का सुधार चाहने वालों को दूसरे का सुधार करना ही होगा। इसमें जितनी देर होगी उतनी ही समाज की हानि होगी। फिर हिन्दू-समाज में समाज से सर्वथा बहिष्कृत 'विधवाओं' की ख़ासी तादाद है, जिन्हें हम उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। पर यह प्रकृति का नियम है कि जिससे लाभ नहीं होता उससे हानि अवश्य होती है। उस हानि से तभी बचा जा सकता है जब उसे लाभ के रूप में बदला जाय अन्यथा हानि अवश्य-भावी होती है। मैल लग जाने पर जैसे शरीर मोटा न होकर कृश और कदर्य होता है वैसे ही विधवाओं की उपेक्षा करके भी हिन्दू-समाज उनकी हानि से नहीं बच सकता। इसका बुरा परिणाम समाज के लिए अवश्यम्भावी है। हिन्दू-समाज को अपने शास्त्रों का चाहे जितना अभिमान हो किन्तु वह इस हानि से नहीं बच सकता। और एक अग्र-शोची मनुष्य उन शास्त्रों को साष्टाङ्ग नमस्कार किये बिना नहीं रह सकता जिन्हों ने विधवा की दशा ऐसी बना डाली है:—

पति के स्वर्गवासी होने पर स्त्री सह-गमन अर्थात् आग में जल कर प्राण त्याग करे। 'मृतेभर्त्तरि या नारी समारोहेद्‌-हुताशनम्' तथा 'शुभाचारा स्वर्गलोके महीयते *' आदि। स्त्री के सहगमन का फल क्या है? यदि पुरुष महा पातकी हो और हत्या आदि दोषों से भी युक्त हो तो स्त्री के सहगमन करने से वह उन दोषों से मुक्त होकर स्वर्गगामी होगा †। शास्त्रों ने दया करके गर्भवती, रजस्वला, बालिका और बच्चेको दूध पिलाने वाली स्त्रियों को सतीपन के बन्धन से मुक्त किया है ‡।

मुग़ल-सम्राट् अकबर के समय से इस सती-प्रथा के बन्द करने का प्रयास किया गया था। किन्तु § प्रायः सभी देशों में यह प्रथा जैसे-तैसे प्रचलित ‖ रही। अँगरेज़ी राज्य के प्रारम्भ काल ही से इस प्रथा की ओर विशेष लक्ष्य दिया गया।

---

*—दक्ष-संहिता, अ० ४ श्लो० १९। श्रीयुत मन्मथनाथदत्त का धर्मशास्त्र (१९०८ ई०)

†—विवादभगार्णव में इसका पूर्ण समर्थन है। इस ग्रन्थ का अँगरेज़ी अनुवाद कोलब्रुक साहब ने किया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ तीन भागों में विभक्त है। इसका नाम "कोलब्रुक्स डायजेस्ट" है।

‡—कोल० डाय० भा० २, पृ० ४५१।

§—कोल० डाय० भा० २, पृ० ४५६—४५७।

‖. Steel's Hindoo Law and Custom (1868) page 174. again —Cranfurd's Sketches of the Hindoos (1792) Vol. 2nd. page 17—33

सब से पहले यह नियम बना कि सती होने के लिए सरकारी आज्ञा ली जाय। सती होनेवाली स्त्री अपने होश-हवास में हो; उसे किसी प्रकार का मादक द्रव्य खिला कर या फुसला कर* सती होने पर उद्यत न किया जाय। अँगरेज़ी प्रारम्भ काल में यही नियम था और इसकी तहक़ीक़ात पुलिस के द्वारा होती थी। किन्तु इस नियम के विपरीत कई बार ऐसा हुआ कि जब बिचारी विधवा अग्नि के असह्य कष्ट से लौटी तब दूसरे लोगों ने उसे ज़बर्दस्ती चिता पर ढकेल दिया या उसके कपड़ों में ऐसे ज्वालाग्राही पदार्थ रख दिये कि चिता के पास जाते ही वे जल उठे और लोगों ने उसे सती कह कर चिता की ओर ढकेल दिया†। उस समय तक कोई ऐसा क़ानून नहीं था जिससे हिन्दू सती को रोका गया हो। बल्कि हिन्दू-शास्त्रों के अनुसार ही हिन्दू सती को गर्भ आदि की दशा में रोका जाता था‡। जिस सती होने वाली स्त्री का बालक तीन वर्ष से कम आयु वाला होता था, उसकी जवाबदारी और बच्चे की परवरिश का प्रतिज्ञापत्र घर वालों से लिखा लिया जाता था§।

---

*—II. Bom Rep. 95.

†—Sir Thomas Strange's Hindoo Law (1830) Vol. 1st. page 239.

‡—I Bom. Rep P. 95.

§—Sir T. Strange's Hindoo Law (1830) page 240

यदि पति की मृत्यु के समय स्त्री वहाँ उपस्थित न हो और वह स्त्री सती होना चाहती हो तो पति का शव एक दिन तक रक्खा जा सकता था, व्यास-संहिता में इसका अच्छा वर्णन है *। किन्तु यह व्यवस्था ब्राह्मणों के ही लिए है †। "मृतं शरीरमादाय ब्राह्मणो वह्निमाविशेत्" ‡। अन्य वर्णों में 'अनुगमन' की प्रथा विशेष थी। पति का मृत्यु-समाचार सुन कर उसका दुपट्टा, खड़ाऊँ, कटार या और कोई वस्तु लेकर सती हो जाने का नाम अनुगमन है। हिन्दू-शास्त्रों ने आत्मघात को पाप माना है, किन्तु सहगमन के समय में ऋग्वेद की ऋचाओं का पाठ होता था और उस पाप का वह क्षालन माना जाता था। ब्रह्मपुराण में इसकी विशेष व्याख्या की गई है §। हिन्दू-शास्त्रो के अनुसार सती की सहायता करना पाप नहीं है। हिन्दू सती के दर्शन को अहोभाग्य समझते हैं ‖। किन्तु अँगरेज़ी

---

*—कोल० डाय० भा० २, पृ० ४५९।

†—१८२५ ई० में पूने में एक तेलिन सती हुई थी। Steel's Hindoo Law and custom (1868) page 174. समाचार-पत्रों में ऐसी बहुत घटनाएं देखनेमें आती हैं।

‡—व्यास-संहिता, अध्याय १, श्लोक ५२।

§—कोल० डाय० भा० २, पृ० ४५६।

‖—सुप्रसिद्ध चित्तौरगढ़ में तीन बार कई कई सौ रानियों का साका हुआ है। महाराष्ट्र देश में 'थेउर' का स्थान भी इस ही प्रकार प्रसिद्ध है।

न्यायानुसार सती होना बन्द हुए बहुत वर्ष बीते *। इस समय भी कभी-कभी सती होने की बात सुनाई पड़ जाती है। आज-कल की सामाजिक धारणा इस प्रकार की है कि व्यक्ति समाज के हित के लिए बना है, इसलिए प्रत्येक अवस्था में समाज को लाभ पहुँचाते जाना भी उसका कर्त्तव्य है। किन्तु देशी राज्यों में यह प्रथा सहसा बन्द नहीं हुई;—१८३९ ई० में महाराज रणजीत सिंह के साथ कई रानियाँ सती हुईं। नेपाल के महाराज जङ्गबहादुर के साथ भी कई रानियां सती हुई थीं।

सती के अलावा हिन्दू-शास्त्रों ने विधवा का दूसरा मार्ग नियोग कहा है। यदि पति की मृत्यु के समय स्त्री निपुत्री हो तो वह अपने पति को पुत्रवान् की गति प्राप्त कराने के लिए, इष्ट बन्धुओं की सम्मति से, ज्येष्ठ वा कनिष्ट देवर तथा इनके न होने पर सगोत्रजसे—"एकमुत्पादयेत्पुत्रं न द्वितीयं कथंच न †।" किन्तु यह पुत्रोत्पत्ति कर्त्तव्य ही समझ कर होनी चाहिए, लालसा की तृप्ति के लिए नहीं। यदि, "वर्तेयातां तु कामतः" तो पति को स्वर्ग-प्राप्ति की जगह "तावुभौ पतितौ स्याताम्" ‡ वे दोनों नरक में जायँगी।

*—१८२९ ई० के १७ वें रेग्युलेशन के अनुसार सती होना और उसकी मदद करना दोष है।

†—मनु० अ० ९, श्लोक ६०।

‡—मनु० अ० ९, श्लोक ६३। यम-संहिता का अवतरण। को० डाय० भा० २ पृ० ४६८।

कई स्मृतिकारों का मत है—"क्षेत्रभूतास्मृता नारी बीजभूतः स्मृतः पुमान् *" तथा, "क्षेत्रिकस्यैव तद्बीजं न वप्ता लभते फलम् †" अन्य स्मृतिकारों का मत होते हुए भी मनु का कहना है कि:—"पशुधर्मो विगर्हितः ‡" अतः वेदसम्मत नहीं है। क्योंकि, "नोद्वाहिकेषु मंत्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित् §" इतना होते हुए भी नियोग की प्रथा भारत में वेणु राजा ‖ के समय से प्रचलित हुई। वेणु राजा ने, "कामोपहत चेतनः" होकर नियोग-विधिको चलाया, तब से नियोग को, "विगर्हन्तिसाधवः ¶" अर्थात्—"नान्यस्मिन्विधवानारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः ☫" कलियुग में किसी वर्ण के लिये भी नियोग सशास्त्र नहीं। वृहस्पति संहिता में इसका अच्छा विवेचन है ◇। किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक उड़ीसा में यह प्रथा प्रचलित थी ⸸।

---

*—मनु० अ० ९, श्लोक ३३।

†—मनु० अ० ९, श्लोक ५४।

‡—मनु० अ० ९, श्लोक ६६।

§—मनु० अ० ९, श्लोक ६५।

‖—बोपदेव की श्रीमद्भागवत। ब्रह्मर्षियों ने इसी वेणु को सिंहासनच्युत किया था।

¶—मनु० अ० ९, श्लोक ६७—६८।

☫—मनु० अ० ९, श्लोक ६४।

◇—कोल० डाय० भाग २, पृष्ठ ४७५।

⸸—कोल० डाय० भाग २, पृष्ठ २७६ की टिप्पणी।

गतभर्तृका, बाला, तरुणी, वृद्धा, सापत्य या निरपत्य कैसी ही स्त्री हो, "न द्वितीयश्च साध्वीनां क्वचिद्भर्त्तोपदिश्यते*" इतना ही नहीं, हिन्दू-शास्त्र कहते हैं,—"न तु नामापि गृह्णीयात् पत्यौ प्रेते परस्य तु †" तथा "न विवाह विधावुक्तं विधवा वेदनं पुनः ‡" किन्तु निम्न जातियों में इस नियम की रक्षा नहीं हो सकी। पुराने ज़माने में भी संयुक्त प्रान्त, गुजरात, महाराष्ट्र और बंगाल में निम्न जातियों में पुनर्विवाह होता था §। किन्तु उच्च वर्णों के लिये, "सेह निन्दामवाप्नोति पतिलोकाच्च हीयते ‖"। महाराष्ट्र देश के इतिहास में लिखा है कि पेशवाओं के समय में पुनर्विवाह पर कर लिया जाता था। किन्तु अब सन् १८५६ ई० के १५ वें एक्ट के अनुसार उच्च वर्ण की स्त्रियों को पुनर्विवाह की आज्ञा है।

पुनर्विवाह की चर्चा सब से पहले ब्रह्मसमाज के प्रवर्तक राजा राममोहन राय ने उठाई थी और पीछे से पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने यह विषय उठाया। पुनर्विवाह पर विद्यासागर का सब से पहला लेख १८५४ ई० में निकला था, तब से अब तक इस विषय पर वाद-विवाद होते हुए समाज में दो पक्ष हो गये हैं। उत्तर भारत में इस विषय

*—मनु० अ० ५, श्लोक १६२।

†—मनु० अध्याय ५, श्लोक १५७।

‡—मनु० अध्याय ९, श्लोक ६५।

§—Mayne's Hindoo Law (1892) page 98.

‖—मनु० अध्याय ५, श्लोक १६१।

को सब से पहले ऋषि दयानन्द ने उठाया, और अब उनकी स्थापित की हुई आर्यसमाज ही इस विषय को चला रही है।

जब भारतीय विधवाओं को पुनर्विवाह की आज्ञा नहीं, नियोग पशुधर्म है, तब सती होने के सिवाय क्या और कोई मार्ग नहीं है? कात्यायन ऋषि के मतानुसार जो विधवा परमात्मा पर विश्वास रख कर आत्मसंयम से जीवन व्यतीत करती है वह अरुन्धती के समान है*। मनु ने विधवा के ऐसे जीवनक्रम पर लिखा है, "मृतेभर्तरि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता। स्वर्गंगच्छत्यपुत्राऽपि.. .." †। आदि वचनों से स्वर्ग की प्राप्ति बताई है। विष्णुसंहिता में लिखा है कि, 'जिसे ब्रह्मचर्य से रहना अशक्य मालूम होता हो उसे चिता पर जल कर मरना ही चाहिए ‡। यदि वह जीवित रहे तो भी, "त्यक्तकेशा तपसा शोधयेद्वपुः" §। इसके अलावा ताम्बूल, शैया, अभ्यंग तथा आहार-विहार से सदा के लिए किनारा कर लेवे ¶। पति की मृत्यु के अनन्तर विधवा को पुत्र की देख-रेख में रहना चाहिए; क्योंकि, "मृते भर्तरि पुत्रस्तु

---

*—कात्या० डाय० भा० २, पृ० ४६५।

†—मनु० अ० ५, श्लो० १६०।

‡—विष्णुसंहिता, अ० २५, श्लो० १४।

§—व्यास-संहिता, अ० १, श्लो० ५३।

¶—कात्या० डाय० भा० २, पृ० ४६०।

वाच्योमातृ रक्षिता *।" यदि पुत्र न हो या छोटा हो तो श्वसुरगृह या पितृगृह में रहना चाहिए; किन्तु स्वाधीन कभी न रहना चाहिए †। यदि पति का ऐसा कोई निकट सम्बन्धी न हो तो "तेषामभावे ज्ञातयः" ‡ यदि वे भी न हों तो देश का रक्षक (राजा) उनका पालन करे। हिन्दू विधवा और विशेषतः विकेशा को न्यायालय में साक्षी देने न जाना होगा §।

यह तो हिन्दू विधवा की निजू दशा के विषय में हुआ, अब सम्पत्ति से उसके सम्बन्ध में हिन्दू-शास्त्र जो कुछ आज्ञा देते हैं उसका भी ज़रा दिग्दर्शन कर लेना अनुचित न होगा। हमारे शास्त्रों ने विधवा के लिए सम्पत्ति के इस प्रकार भाग किये हैं:—(१) पति की सम्पत्ति पर विधवा का हक़, (अ) वारिस, (ब) हिस्सा, (क) दत्तक, (च) अन्नवस्त्र, (२) सम्पत्ति का उपभोग, और (३) मृत्युके अनन्तर उस सम्पत्ति का विभाग। पति की उत्तर क्रिया और श्राद्ध का अधिकार पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र, दत्तक और विधवा को क्रम से है ‖।

*—मनु० अ० ९, श्लो० ५।

†—"न स्त्रीस्वातन्त्र्यमर्हति" "स्वातन्त्र्यं न क्वचित् स्त्रियः" "न भजेत् स्त्री स्वातन्त्र्यं"।

‡—याज्ञवल्क्य, अ० १ श्लो० ८५।

§—Sir T. Strange's Hindoo Law (1830) Vol. 2nd page 482.

‖—निर्णयसिन्धु के मतानुसार उत्तर क्रिया का हक पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र, और दत्तक को है, इन चारों के न होने पर विधवा को है।

यदि पहले चारों न हों तो विधवा को है और वह भी नियमित *। यदि पति का कुल अविभक्त है तो विधवा केवल अन्नवस्त्र की ही हकदार है †। स्मृतिकारों के मतानुसार यह हक़ भी तभी तक माना जा सकता है जब तक विधवा सदाचारिणी बनी रहे। हिन्दू-धर्म के अनुसार एक पुरुष अनेक विवाह भी कर सकता है, उन सब की विधवा दशा में सम्पत्ति की अधिकारिणी ज्येष्ठा ही होती है और दूसरियों का भरण-पोषण करना उसका कर्त्तव्य होता है ‡। "प्रथमा धर्मपत्नी च द्वितीया रतिवर्द्धिनी"। ज्येष्ठा आयु के लिहाज़ से नहीं मानी जाती, किन्तु जिसके साथ वेद-विधि से सब से पहले विवाह हुआ हो वही ज्येष्ठा है।

हिन्दू-धर्मशास्त्रों में सीधा अपने नाम से हिन्दू विधवा का सम्पत्ति पर कोई हक़ नहीं है, किन्तु सन्तान के पालन के बहाने से है। यदि बाँट करते समय विधवा गर्भवती हो तो उसे हिस्सा दिया जायगा, किन्तु यदि बाद में पुत्र पैदा हो, तो उस दिये हुए हिस्से का फिर से हिस्सा किया जा सकता है।

---

*—बृहस्पति-संहिता के मतानुसार माता के जीवित रहते पुत्र का हक नहीं है। धर्मशास्त्र और वेदान्त के अनुसार स्त्री पति की अर्द्धाङ्गिनी है—यह एक हिन्दू रूढ़ि भी होगई है अर्थात् पति के आधे अङ्ग के जीवित रहते उसकी सम्पत्ति पर और किसी का अधिकार नहीं हो सकता (की० डा० भा० ३, पृ० ४५८)

†—इस में बङ्गाल के दायभाग का समावेश नहीं है।

‡—दक्ष-संहिता, अ० ४ श्लोक १५।

यदि गर्भवती विधवा का हिस्सा सम्पत्ति पर पहले न लगाया गया हो तो पीछे पुत्र के उत्पन्न होने पर लगाया जा सकता है *। दक्षिण भारत की कुछ शूद्र जातियों में यह चाल थी कि, एक पुरुष की जितनी स्त्रियाँ हों वे सब अपनी सन्तान के नाम पर पति की सम्पत्ति का समान भाग बँटा लेती थीं †।

यदि कोई पुरुष बिना सन्तान के मर जाय तो उसकी सम्पत्ति के मालिक (दायद) रिश्तेदार हैं। यदि किसी को अपनी सम्पत्ति की यह गति न मंजूर हो तो वह दत्तक (गोद) ले सकता है। हिन्दू-शास्त्रों ने बिना पुत्र वाले की सद्गति नहीं मानी है, इसी की पूर्ति के लिए दत्तक की चाल चली थी। कई सौ वर्ष पहले दत्तक लेने का अधिकार केवल पुरुषों को ही था। किन्तु धीरे-धीरे विधवाओं के दत्तक लेने की प्रथा चल पड़ी। दत्तक पुत्र धर्मशास्त्र के अनुसार माता और पिता दोनों को पिण्डदान कर सकता है। किन्तु विधवा विशेष करके पति के नाम पर ही दत्तक ले सकती है, अपने पर नहीं। दत्तक लेने में विधवा को (शायद) रिश्तेदारों की आज्ञा लेनी आवश्यक है ‡। विधवा जैसे दत्तक ले सकती है वैसे ही दे भी सकती है, बल्कि देने में विधवा को अधिक कठिनाई नहीं है।

---

*—हिन्दू दायभाग। याज्ञवल्क्य।

†—Sir T. Strange's Hindoo Law (1830) Vol. I. P. 205

‡—हिन्दू विधवा के लिए इस समय हाईकोर्ट में यही मत माना जाता है।

अपने पति की सम्पत्ति पर विधवा का सीधा हक़ नहीं है, किन्तु उसका जो कोई वारिस हो, उससे अन्न-वस्त्र का हक़ है। यदि विधवा सब के साथ रहे तब तो सब के बराबर उसका भरण-पोषण होताही जायगा। किन्तु यदि वह न्यारी भी रहना चाहे तो अपना कुछ मासिक करवा सकती है। धर्मशास्त्र के अनुसार यह रक़म इतनी होनी चाहिए कि जिससे अपना अन्न-वस्त्र का गुज़ारा करके विधवा पति की श्राद्ध क्रिया भी कर सके। यदि पति की सम्पत्ति इतनी कम हो कि जिससे विधवा का निर्वाह न हो सके तो इसका भार रिश्तेदारों पर है।

पति की स्थावर सम्पत्ति बाग़, मकान, ज़मीन, कुआ आदि का विधवा के जीवित रहते इतना ही हक़ है कि वह उसकी उपज का उपभोग करे। किन्तु उसे नष्ट नहीं कर सकती अर्थात् उस मिल्कियत को किसी प्रकार नुक़सान नहीं पहुँचा सकती। यदि बेचने या गहने रखने की नौबत हो आ जाय तो सब काम रिश्तेदारों की सलाह से होगा। पति के वार्षिक श्राद्ध या कन्या के विवाह में वह बेचा जा सकता है।

विधवा की मृत्यु के अनन्तर जो स्थावर या अस्थावर सम्पत्ति होगी वह सब रिश्तेदारों की होगी। केवल उसका निज का (स्त्रीधन) जो कुछ होगा उस पर लड़की का हक़ हो सकेगा। क्योंकि पुत्री के पिण्डों में पिता की अपेक्षा माता का अंश

अधिक होता है *। पतिके वारिसों का उस पर कोई हक़ नहीं है।

पति की जीवित दशा में तो हिन्दू स्त्री का कोई अधिकार है ही नहीं, किन्तु उसकी विधवा दशा में भी उस पर कैसा अमानुषी व्यवहार किया जाता था, सो हम संक्षेप से ऊपर लिख चुके। पाठकों के लिए विचार का मौक़ा है कि वे पुरुषों के बनाये धर्मशास्त्र को दृष्टि से देख लेवें कि इस में पुरुषों का पक्ष अधिक लिया गया है या कम? हमारी क्षुद्र बुद्धि जहाँ तक विचार करती है—यह न्याय धर्म का नाम लेकर सर्वथा पक्षपात से भरा हुआ है। हिन्दू देवियाँ धर्म का नाम लेकर अन्याय से ग़ुलामी (Bondage) में डाली जाती है, और उनके हक़ अनुदारता से क्षुद्र कर दिये जाते हैं। आज-कल का उन्नत यूरोप किसी समय ऐसे ही क्षुद्र विचारों में डूब रहा था, स्त्रियाँ ऐसी ही दासता में पड़ी हुई थीं। संसार में सब से प्रथम उन्नति करने वाले "ग्रीस" और "रोम" में भी यह दशा थी। ग्रीस की पूर्ण उन्नति के समय में स्त्रियों के विषय मे एक लेखक ने लिखा है :—

"स्त्रियाँ प्रायः मकान के पिछले भाग में रहती हैं, पुरुषों के साथ उनका मिलना-जुलना असम्भव है। उनका घूमना-फिरना प्रायः घर ही के भीतर ही लेता है। यदि किसी समय वे बाहर जाती हैं तो एक आदमी उनके साथ जाता

---

*—मनु० अ० ९ श्लो० ४९।

है। विवाह में स्त्रियों की सम्मति नहीं ली जाती। पति और पुत्र की सेवा के अलावा वे और किसी बात में हाथ नहीं लगा सकतीं *"।

दो हज़ार वर्ष पूर्व ग्रीस में स्त्रियों की जो दशा थी आज दो हज़ार वर्ष बाद हमारे देश में स्त्रियों की वही दशा है। अपनी पुरानी तरक्की का फूटा नक्कारा पीटने वाला हमारा समाज, यदि आँखें रखता है—यदि हृदय रखता है तो वह देखे कि उसने अपने हाथ में आये हुए अधिकारों को किस बुरी तरह से कुचला है। जो व्यक्ति आज्ञापालन करना नहीं जानता वह आज्ञा देने का अधिकारी नहीं हो सकता। जो स्वयं उदारतापूर्व्वक दूसरों को अधिकार नहीं दे सकते, उनका दूसरों से अधिकार पाने की आशा रखना हँसी की बात है। पुरानी रूढ़ियों पर हम जैसे लकीर के फ़क़ीर बने है, वैसी जाति इस समय संसार में और कोई नहीं है। यदि हमें ज़रा से सुधार करने की आवश्यकता होती है,—यदि हमें एक क़दम आगे बढ़ने की ज़रूरत होती है तो हम अपने सैंकड़ो वर्ष के पुराने शास्त्रों के जीर्ण-शीर्ण पृष्ठ लौटने लगते हैं—प्राचीन रूढ़ि और लोगों का मुँह ताकने लगते है—यह हमारी सब से बड़ी आत्मिक कमज़ोरी है, बुज़दिली है। हमारी यह श्रद्धा बड़ी भूल भरी है कि हमारे

---

*—Hill's essays on the institutions & of the States of ancient Greece, page 266

शास्त्रों में जो कुछ है वह सर्वथा अच्छा ही अच्छा है—इस ज़माने में वह कल्याणकारक ही है। पुनर्जन्म के मानने वाले भी इस बात से नाहीं नहीं कर सकते कि, आत्मा एक होने पर भी अनादि काल तक उसी शरीर से काम नहीं चला सकता, एक निश्चित अवधि के बाद उसे भी शरीर बदलना ही पड़ता है। कोई गवर्नमेण्ट एकबार क़ानून बना कर सदा उसी से काम नहीं चला सकती—उसे भी समय और आवश्यकता के अनुसार सब बातों में परिवर्त्तन करते रहना पड़ता है। कोई मनुष्य एक दिन भोजन करके उससे बहुत दिन टेर नहीं कर सकता—उसे नित्य भोजन करना पड़ता है और समय तथा आवश्यकता के अनुसार उसमें परिवर्त्तन करते रहना पड़ता है। जो इस परिवर्त्तन के महत्त्व को नहीं जानता, वह संसार में जीवित नहीं रह सकता। किन्तु हमारा हिन्दू-समाज अपने लिए जो सामाजिक नियम बना चुका था—उन्हीं के सहारे चल कर वर्तमान संसार का मुक़ाबिला करना चाहता है। पुरानी गूदड़ी चीथड़ों की थिगली लगाते-लगाते हद से ज़ियाद बोझल और घिनौनी बन गई है, पर भिखारी जैसी अपनी उस परम प्यारी गुदड़ी में दो चार चीथड़े और टाँक देना अपना कर्त्तव्य समझता है वैसे ही हिन्दू-समाज अपने पुराने ढकोसलों से भरे रीति-रिवाजों को बोझल होने पर भी सिर पर लादे तरक्क़ी के पहाड़ पर चढ़ना चाहता है! समाज का यह प्रयास तिलों

के साथ बालू मिला कर तेल निकालने के समान है। जैसे अपनी पुरानी-धुरानी चीजों के अतिशय प्यारी होने पर भी बिना उनमें आग लगाये प्लेग से छुटकारा नहीं होता, वैसे ही अपनी निरर्थक रीति-रिवाजों और व्यवहारों को एक दम बिना छोड़े—बिना सर्वाङ्गपरिवर्त्तन किये हिन्दू-समाज का निस्तार नहीं हो सकता। उस परिवर्त्तन में विशेष करके स्त्रियों के जिन अधिकारों की असर्यादा की गई है—उनका चारु रूप से परिवर्त्तन करना होगा। इसे छोड़ कर कोई रस्ता है ही नहीं। इसमें जितना विलम्ब किया जायगा, समाज के उन्नत होने में भी उतना ही विलम्ब होगा।

आज समझदार मनुष्य की आँखों से स्त्रियों का महत्त्व छिपा नहीं है। यूरोप के भीषण संग्राम में अबलाओं का कार्य देखने योग्य है। पुलिस, डाक, तार, रेल, कारख़ाने, दूकान, कार्यालय आदि सब कहीं स्त्रियों की महिमा प्रत्यक्ष दीख रही है। सामाजिक या राजनैतिक किसी बात में भी स्त्रियों को पीछे छोड़ अब काम चल ही नहीं सकता। अब हमें इस समय के लिए उपयोगी और आवश्यक नवीन शास्त्र बनाने होंगे। शङ्कर और कपिल के सिद्धान्तों को पढ़ने की जगह मिल और स्पेन्सर को पढ़ना होगा। बद्रीनारायण और जगन्नाथ की यात्रा की जगह न्यूयार्क और लण्डन को पवित्र तीर्थ मान कर यात्रा करनी होगी। प्राचीन शास्त्रों का उपयोग प्राचीन इतिहासों से बढ़ कर नहीं

होगा। हिन्दू-समाज को शीघ्र ही इस परिवर्त्तन को तेज़ धार में बहना होगा—इसलिए उसकी सन्तान के हाथ में हम तत्त्ववेत्ता मिल के विचार रखते हैं। यद्यपि आज हिन्दू-समाज के लिए ये विचार कुएँ में बैठे हुए मनुष्य के लिए हिमालय की एवरेस्ट चोटी के समान है। किन्तु वह समय अधिक दूर नहीं है जब हमें इस मार्ग पर चलना होगा।

मिल की वर्णन-शैली और रचना-पद्धति बड़ी क्लिष्ट है। बहुत कुछ सरल करने पर भी भाषा में भावों की क्लिष्टता रही ही है। मिल संसार के उन दूरदर्शी महात्माओं में से है जिनकी संख्या इस धराधाम पर अत्यल्प होती है। मिल आधुनिक संसार का ऋषि है। और एक ऋषि जैसे संसार को आगे से आगे सचेत कर देता है वैसे ही मिल की भी यह गम्भीर वाणी है। मिल की एक पुस्तक "स्वाधीनता" के नाम से सरस्वती-सम्पादक श्रद्धेय पं० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी लिख चुके हैं। उसके दो संस्करण हुए हैं। यह मिल की दूसरी पुस्तक मातृभाषा के मन्दिर में, आज मैं रखने का साहस करता हूँ। यदि यह मेरे समाज के विचारों में कुछ भी परिवर्त्तन कर सकी तो मैं अपना श्रम सफल समझूँगा।

देहली,
फरवरी, १९१६ ई०
} शिवनारायण द्विवेदी।
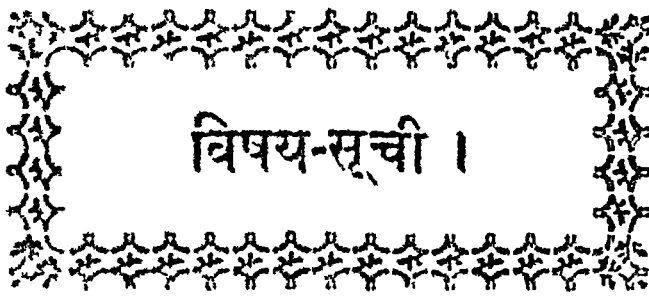
विषय-सूची ।

पहला अध्याय।

१—मै अपने छुटपन से,—उस समय से जब से कि मैं प्रत्येक सामाजिक और राजनैतिक विचार अपनी कसौटी पर पजोखने लगा, एक महत्त्वपूर्ण विषय जिस पर मैंने भली भाँति विचार कर लिया है—जिस पर मेरा निश्चय दृढ़ हो चुका है, उस ही अपने निश्चय या सिद्धान्त को साफ़ तौर से खोल कर कहना इस निबन्ध का उद्देश है—अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करना ही इसका मक़सद है। मेरा यह सिद्धान्त,—मेरी यह धारणा समय के लम्बे प्रवाह में पड़ कर जैसे शिथिल नहीं हुई वैसे ही किसी प्रकार का लौट-फेर भी

नहीं हुआ, यानी शुरू से आख़िर तक इस विषय में मेरा मत नहीं बदला। हाँ, यह अवश्य हुआ कि मेरा सांसारिक अनुभव जैसे जैसे बढ़ता गया और मानसिक सम्पत्ति की जैसे जैसे वृद्धि होती गई—वैसे ही वैसे इस विचार में अधिकाधिक दृढ़ता आती गई—ज्यों ज्यों समय बीता त्यों त्यों यह विचार पक्का जान पड़ा। मै जिस विषय का प्रतिदान करने चला हूँ, वह हमारी दृष्टि में इस प्रकार आता है कि, समाज में स्त्री पुरुषो के लिए जो एक दृढ़ नियम बना है, उसके अनुसार समाज का एक समुदाय (स्त्री-समाज) दूसरे समुदाय (पुरुष-समाज) के आधीन है ; यानी हम में जो सामाजिक नियम दृढ़ता के साथ प्रचलित है उन सब में यह पहला है कि स्त्रियाँ पुरुषों के आधीन रहें। किन्तु, यह नियम, यह क़ायदा—मेरी समझ के अनुसार ग़लत है ; संसार में उन्नति के बाधक जो थोड़े से कारण हैं उन सब में इसका पहला नम्बर है। इस अत्याचारी नियम का हमें त्याग करना चाहिए, और इसके स्थान पर 'समानता' की प्रतिष्ठा करनी चाहिए ; क्योंकि संसार में स्त्री और पुरुष के हक़ बराबर है—यानी किसी के अधिकार कुछ कम और किसी के कुछ अधिक है ही नहीं। पुरुष-समुदाय किसी प्रकार विशेष अधिकार पाने का हक़दार नहीं, अतः समानता होनी चाहिए।

२—जिस सिद्धान्त के प्रतिपादन का भार मैंने लिया है—

समाज के बड़े भारी प्रवाह को दूसरी ओर घुमा देने के लिए मैं जो तैयार हुआ हूँ,— मैं समझता हूँ कि केवल शब्दों के द्वारा वह प्रतिपादित नहीं होगा। मैं समझता हूँ कि मेरा काम कठिन है। जिस कठिनता की बात मैं कह चुका हूँ उसका अर्थ यह नहीं है कि मैं अपने सिद्धान्त की पुष्टि के लिए जो उदाहरण, जो दलीलें दूँगा वे सबल या स्पष्ट नहीं हैं। बल्कि मुझे इस काम में वैसी ही कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा, जैसी किसी राजनैतिक या सामाजिक प्रथा को दूर करने में होती है—या लोगों के दिलों में बैठी हुई मुर्दा रीति-रिवाजों को हटाने में जैसी मुश्किलें आती हैं। जहाँ किसी मत, धर्म या सम्प्रदाय के मानने वाले उसे अपने हृदय में चिपटाये होते हैं—वहाँ यदि कोई उसकी असारता साबित करने के लिए मज़बूत से मज़बूत प्रमाण उनके सामने रखता है,—तो वह ढीला पड़ने के बदले उलटा मज़बूत होता है। क्योंकि यदि कोई मत, धर्म या सम्प्रदाय किन्हीं ख़ास नियमों, तत्त्वों या उसूलों पर स्थापित किया गया हो तो उन नियमों, तत्त्वों या उसूलों को असार सिद्ध करने पर उसके भक्तों की आस्था उड़ जायगी—यानी यदि कोई मत किसी ख़ास नियम पर रचा गया हो तो उस नियम को ग़लत साबित करने पर उस मत का मन्दिर गिर पड़ेगा; पर यदि कोई मत लोगों की इच्छाओं पर—मनोवृत्तियों के झुकाव पर ही बना हो,— तो सबल और स्पष्ट प्रमाणों द्वारा जैसे जैसे वह निकम्मा

साबित होता जायगा,—वैसे ही वैसे 'उसके भक्त—उसके मानने वाले—उसके हिमायती,—अपना इरादा पक्का करते जायँगे कि हमारा मत तो बदलना ही नहीं चाहिए। वे अपने इरादे की जड़ हृदय के उस गहरे और अँधेरे स्थान में गाड़ते है जहाँ दलीलों और प्रमाणों की पहुँच नहीं होती—वे तर्क की तीखी तलवार को परम्परा के विश्वास की ढाल पर लेते हैं। ग़नीम उनके इस मज़बूत किले के जो जो हिस्से गिरा देता है—उन्हें वे सुधारने के लिए तैयार रहते है— वे उसकी मरम्मत के लिए नई नई कल्पनाएँ निकाला करते हैं—नये नये ढँग सोचा करते हैं। पुराने रीति-रिवाज—पुराने आचार-विचार—पुराने नियम-उपनियम की रक्षा लोग सदा करते रहते हैं, लोगों को सब प्रकार की पुरानी बातों की रक्षा करने के लिए अनेक घटनाएँ मिलती है और उन्हें दृढ़ बनाने वाले कारणों की संख्या इतनी अधिक है कि आध्यात्मिक और व्यावहारिक स्थिति में बड़ा भारी परिवर्त्तन हो जाने पर भी,—और अनेक विषयों में बहुत कुछ लौट-फेर हो जाने पर भी स्त्रियों के विषय में यह मत नहीं बदला, यह जैसा तब था वैसा ही अब भी है, किन्तु इस में आश्चर्य्य की कोई बात नहीं है। जैसे जंगली आदमी अपनी रीति-रिवाजो 'का कुछ सिर पैर न जानने पर भी उसे दृढ़ता के साथ सैंकड़ों बरस निबाहे जाते हैं—वैसे ही समाज में असार होने पर भी जो बातें छाती के ज़ोर पर

निबाही जाती हैं, उन में उन जंगली रिवाजों से किसी प्रकार कमी न समझनी चाहिए।

३—जो मनुष्य किसी सर्वमान्य मत का खण्डन करने को खड़ा होता है उसके सिर बड़ा भारी बोझ होता है। सब से पहली बात तो यही है कि लोग उस की बात सुनते ही नहीं, यदि समाज उसकी बात सुनने को तैयार हो तो समझना चाहिए कि वह बड़ी सामर्थ्य वाला या भाग्यशाली है। वादी प्रतिवादी को कचहरी से फ़ैसला पाने में जितनी कठिनाइयाँ उठानी पड़ती हैं उनसे कई दरजे ज़ियादा मुश्किलें इस बिचारे को इतनी सी बात के लिए उठानी पड़ती हैं कि लोग उसकी बात सुनने के लिए अपना थोड़ा सा समय दें। यदि लोग उसकी बात सुनने के लिए ज़रा ठहर भी गये तो फिर उसे इस बात के लिए विवश करते हैं कि वह उनके माने हुए सिद्धान्तों के अनुसार ही अपनी बात सिद्ध करे। प्रत्येक विषय में सुबूत अस्तिपक्ष (affirmative side) को देने पड़ते हैं। यदि एक मनुष्य दूसरे पर ख़ून का इलज़ाम लगाता हो, तो इलज़ाम लगाने वाले का फ़र्ज़ होता है कि वह उसका ख़ूनी होना साबित करे। पर जिस आरोपी पर ख़ून का इलज़ाम लगाया गया है उसका फ़र्ज़ यह नहीं समझा जाता कि वह अपना निर्दोषपन साबित करे। जिन साधारण ऐतिहासिक घटनाओं की चर्चा लोगों में बहुत कम होती है, उनके विषय में भी जब मतभेद हो

जाता है, तब नास्तिपक्ष का प्रमाण माँगने से पहले अस्तिपक्ष से प्रमाण माँगा जाता है—यानी उस घटना के होने के सुबूत पहले देने पड़ते हैं, यदि सुबूत ज़ोरदार नहीं है तो दूसरे पक्ष से उसके विरुद्ध साबित करने को नहीं कहा जाता। इसी प्रकार साधारण मानवी व्यावहारिकता में स्वतंत्रता के विरुद्ध जो बोलता है, या जो मनुष्यों की स्वतंत्रता पर किसी प्रकार का अंकुश रखवाना चाहता है,—उस के ही सिर अपनी बात को सिद्ध करने का बोझ समझा जाता है। यदि एक मनुष्य यह कहता हो कि फलाने वर्ग के मनुष्यों के अधिकार इतने न होने चाहिएँ और उसके बदले में दूसरे वर्ग वालों के अधिकार अधिक होने चाहिएँ,—तो लोग उसका कर्त्तव्य समझते है कि वह उस वर्ग को उन अधिकारों के अयोग्य सिद्ध करे—वह भली भाँति साबित कर दे कि वह वर्ग उन अधिकारों को भोगने योग्य नहीं है। सब से पहले दर्शन शास्त्र से यह सूत्र निकाला है कि मनुष्य मात्र को पूरी स्वाधीनता होनी चाहिए और किसी का पक्ष न होना चाहिये। फिर व्यक्ति की स्वाधीनता के विषय में यह नियम सब कहीं स्वीकार किया गया कि मनुष्य-समाज के कल्याण में जिन बातों से बाधा न हो उन सब में व्यक्ति पूरा स्वाधीन है। इस ही प्रकार यह सिद्धान्त भी सर्वमान्य हो गया कि न्याय की दृष्टि में सब मनुष्य समान होने चाहिएँ—यानी न किसी का पक्षपात

किया जाय और न किसी का लिहाज़ माना जाय ; हाँ, जहाँ न्याय और राजनीति के पेचीले कारण सिद्ध हों, उनसे भिन्न अन्य सब प्रसंगों में किसी के साथ भेद-भाव न रक्खा जाय— सब के साथ समान व्यवहार किया जाय। किन्तु मेरे इस सिद्धान्त में इस प्रकार का कोई सूत्र काम नहीं देगा। यदि मैं यह कहूँ,—"स्त्रियाँ पुरुषों के आधीन हैं, पुरुषों को स्त्रियों का अधिकार है ; या राजनीति के योग्य पुरुष ही हैं, स्त्रियाँ उसके अयोग्य हैं,—यह पक्ष पहला है अतएव अस्तिपक्ष हुआ, इसलिए प्रत्यक्ष प्रमाणों के द्वारा यह बात सिद्ध कर देनी चाहिए ; यदि वे ऐसा न कर सकें या उनके सुबूत पूरे न हों तो उन्हें अपनी बात छोड़ देनी चाहिए," तो निस्सन्देह मेरी यह बात व्यर्थ होगी। इस ही प्रकार यदि मैं यह दलील पेश करूँ कि स्त्रियों से विशेष जिन अधिकारों को पुरुष स्वतंत्रता-पूर्वक भोगता है और स्त्रियाँ उन अधिकारों के अयोग्य समझी जाती हैं,—जिन लोगों का यह सिद्धान्त है उन्हें पुरुषों को विशेष अधिकारों के योग्य और स्त्रियों को उनके अयोग्य सबल प्रमाणों द्वारा साबित कर दिखाना चाहिए ; क्योंकि वे एक तो स्त्रियों की स्वाधीनता के ख़िलाफ़ हैं, दूसरे पुरुषों के पक्षपाती हैं। इन दोनों तरीक़ों से तमाम सुबूत उन्हीं के ज़िम्मे पड़ते हैं ; यदि वे अपने मत को निर्विवाद रूप से सिद्ध न कर सकें—तो फ़ैसला उनके ख़िलाफ़ होना चाहिये,—यदि मैं इन्हीं बातों को पेश करूँ तो मेरी

है,—जिस तत्त्व के आधार पर संसार के प्रचलित व्यवहारों की रचना की जाती है,—जिस तत्त्व के सिद्धान्तों में घिर कर मनुष्य छोटे से बड़ा होता है, उस तत्त्व पर यदि बुद्धिवाद का पहला ही हमला हो, और बुद्धिवाद के तीखे प्रभाव से यदि वे अपने तत्त्व की रक्षा न भी कर सकें—फिर भी वे केवल इतने ही कारण से अपना मत कभी नहीं बदलेंगे—वर्तमान मनुष्य-समाज की दृष्टि से यह अशक्य है। कारण यह है कि अभी तक मनुष्यों को अपनी बुद्धि पर विश्वास नहीं है—लोग अभी तक अपनी शक्ति को साधक-बाधक प्रमाणों के तोलने योग्य नहीं समझते—अपनी बुद्धि को वे परिपक्व नहीं मानते। इस दशा पर पहुँचने के लिए अब तक जितना बुद्धि का विकाश हुआ है, इससे कहीं अधिक विकाश की आवश्यकता है। मेरे इस कहने का मतलब यह नहीं है कि बुद्धिवाद या तर्कशास्त्र पर लोगों का विश्वास कम है; बल्कि रूढ़ि या प्रवृत्ति पर जितना विश्वास होना चाहिए उससे कहीं अधिक है—इस स्थान पर समानता नहीं है, यही मेरा मतलब है। अठारहवीं शताब्दी के लोग जिस विचारशक्ति या सामञ्जस्य तत्त्व को जो सम्मान देते थे, उन्नीसवीं शताब्दी के लोग असामञ्जस्य या मनोवृत्ति को वह सम्मान देते है,—यह एक अचम्भे में डाल देने वाली प्रति-क्रिया है। बुद्धि को उसके योग्य स्थान से पदभ्रष्ट करके हमने उसका स्थान नैसर्गिक प्रवृत्ति को दिया है, और अपने

स्वभाव की जिन-जिन विचित्रताओं को हम सरल न कर सके उन सब को 'नैसर्गिक प्रवृत्ति' का नाम देकर हमने छुट्टी पा ली। विचार-शक्ति के द्वारा खरेखोटे की जाँच का सच्चा रास्ता खुला रहने पर भी केवल प्रेरणा-शक्ति के आधार पर बैठ रहना हानिकर है और अवनति का रास्ता है। अन्तः-करण की प्रेरणा को सर्वोत्तम मानना अत्यन्त हानिकारक है—यह समझना बड़ी भूल है,—और इस समय की अधिकांश प्रचलित भूलों का मूल भी यही है। जब तक मानसशास्त्र के यथार्थ ज्ञान का प्रचार पूर्ण रीति से न होगा तब तक इस प्रकार की ग़लतियाँ निर्मूल नहीं हो सकतीं, तब तक ऐसे प्रकार घटते ही रहेंगे। तब तक घटना, प्रकार, या विषय जिसके यथार्थ स्वरूप को हम नहीं समझ सकते उसे 'सृष्टि-क्रम' 'ईश्वरीलीला' 'क़ुदरती बात' आदि शब्दों से स्मरण करके अपने सिर से जवाबदारी का बोझ फेंकते रहेंगे। जब तक मानसशास्त्र के ज्ञान की उचित वृद्धि न होगी और ऐसी घटनाओं का यथार्थ स्वरूप समझ में न आवेगा, तब तक ऐसी बातें बन्द नहीं हो सकतीं।

अस्तु, मैं अपने ही विषय की बात कहूँगा, मेरे मार्ग में लोगों की प्रवृत्ति और रूढ़ि ही कठिनाइयाँ बनेंगी, इन्हें स्वीकार करके मैं आगे बढ़ूँगा। रूढ़ि और लोकाचार मेरे मत के विरुद्ध है। साथ ही मैं यह भी स्वीकार करता हूँ कि यह रूढ़ि या यह समझ सैंकड़ों बरस से अस्खलित रीति

से चली आ रही है, किन्तु इस में रंच मात्र भी सन्देह नहीं है कि इसकी नींव न्याय और विवेचना पर नहीं रक्खी गई—बल्कि इसकी उत्पत्ति के कारण बड़े ही निराले हैं। साथ ही इसकी उत्पत्ति मनुष्य के उत्कृष्ट अंगों से नहीं हुई, बल्कि निकृष्ट अंगों से हुई है,—यदि मैं इस बात को सिद्ध न कर सकूँ तो लोग प्रसन्नता से मेरे ख़िलाफ़ फ़ैसला करें। यदि मैं यह सिद्ध न करदूँ कि मेरा न्यायाधीश पक्षपाती है, तो अवश्य मेरे ख़िलाफ़ फ़ैसला किया जाय। इस बात से बहुत से मुझ से कहेंगे कि, इतनी जोखम तुम अपने सिर क्यों लेते हो—पर सचमुच यह जोखम नहीं है; क्योंकि इतनी सी बात सिद्ध कर देना तो मेरे सम्पूर्ण काम का एक सीधे से सीधा हिस्सा है।

५—जब कोई रूढ़ि, रस्म, आचार-विचार, प्रणाली या क्रिया सर्वसाधारण हो जाती है तब उसके साधारण-पन से यह अनुमान निकाला जाता है कि वह रूढ़ि या रस्म आदि सर्वथा मनुष्य-समाज को हितसाधक है, या एक समय ऐसा अवश्य था जब उससे समाज का हितसाधन होता था,—और यह अनुमान बहुत सी बातों में सच्चा भी होता है। जो रूढ़ि प्रारम्भ में मनुष्य-समाज की भलाई के लिए एक साधन के तौर पर पसन्द करके प्रचलित की गई हो या ऐसे भावों पर स्थापित की गई हो कि अमुक प्रकार के व्यवहार से अमुक हेतु साध्य होगा, इस प्रकार का अनुभव करने के बाद

जो रूढ़ि पसन्द की गई होगी, या उससे शुभ फल होने का विश्वास करके जो रूढ़ि प्रचलित की गई होगी,—उसके विषय में ऊपर वाला अनुमान वास्तव में ठीक उतरेगा। सब से आदि में जिस समय यह रूढ़ि चली कि स्त्रियाँ पुरुषों की आधीनता में रहें, उस समय सामाजिक व्यवहार चलाने के भिन्न-भिन्न मार्गों की भली भाँति परीक्षा करके यदि यह मार्ग निश्चित किया गया होता—अर्थात् अनेक मार्गों में से सब का अनुभव प्राप्त करने के बाद यह निश्चित सिद्धान्त बन गया होता कि स्त्रियों की पराधीनता वाला मार्ग ही सब से अधिक अच्छा है—यानी कुछ समय तक पुरुषों को बिल्कुल स्त्रियों के आधीन करके परीक्षा करली होती,—तथा कुछ समय तक स्त्री-पुरुष के अधिकार सर्वथा समान रख कर पजोखा होता—और इस ही प्रकार कल्पनाके द्वारा जो जो नियम समाज चलाने के सूझ सकते हैं उन सब की परीक्षा भली भाँति की गई होती,—और उस परीक्षा के बाद उसके परिणाम-स्वरूप सामाजिक स्थिति सुधारने वाला कोई नियम सब से अच्छा पाया गया होता,—यदि परीक्षा के बाद यह निश्चय होता कि,—"स्त्रियों को सर्वथा पुरुषों के आधीन रखना चाहिए, उन्हें सार्वजनिक कामों में बिल्कुल हाथ न डालने देना चाहिए, वे स्वाधीनता के सर्वथा अयोग्य हैं, एक-एक स्त्री का भाग्य एक-एक पुरुष के पैर में ही बँधना चाहिए, न्याय के अनुसार उनका कर्त्तव्य यही बनाना चाहिए कि स्त्रियाँ पुरुषों को

आधीनता में ही रहें," इस ही प्रकार की व्यवस्था सर्वोत्तम है, और दोनों पक्ष के हितसाधन का इससे कोई योग्य मार्ग नहीं, तो जिस समय यह प्रथा सब से पहिले पसन्द की गई, उस समय यह सर्वोत्तम थी, यह अनुमान सिद्ध करने के लिए इसकी सार्वत्रिकता, इसका साधारणपन उदाहरण के काम में आसकता था, किन्तु इतना होने पर भी यह तो अवश्य ही होता कि जिन संयोगों और परिस्थितियों के आधार पर यह प्रणाली सर्वोत्कृष्ट मानी गई होती, वे संयोग समय की धारा के साथ नष्ट हो चुके होते या परिवर्तित हो गये होते—यदि परीक्षा के बाद भी स्त्रियों की पराधीनता स्थापित की गई होती तब भी समय के वेग में वे संयोग डूब गये होते,—किन्तु यह निश्चित है कि इस विषय में ऐसी कोई विधि नहीं की गई—बल्कि जो थोड़ा गहरा विचार करोगे तो मालूम होगा कि वास्तव में यह घटना ही औंधी रीति से घटी है। प्रथम तो स्त्रियों की पराधीनता के विषय में जो प्रबल लोकमत दिखाई देता है, वह केवल आनुमानिक कारणों पर अवलम्बित है; क्योंकि समाज ने अन्य किसी भी प्रणाली का कभी अनुभव नहीं किया, इसलिए कोई नहीं कह सकता कि समाज में स्त्रियों की पराधीनता अनुभव का परिणाम है। दूसरे बारीक दृष्टि से देखेंगे तो मालूम होगा कि स्त्री पुरुषों के बीच में असमानता रखने की विषम व्यवस्था को लोगों ने पुख्ता विचार करके—दीर्घ दृष्टि करके—मनुष्य-

जाति के कल्याण का ध्यान धरके—समाज को मज़बूत पायों पर खड़ा करना सोचके नहीं की—इस प्रकार इसकी रचना हुई ही नहीं। सचमुच यदि लम्बे अतीतकाल पर दृष्टि डालोगे तो मालूम होगा कि इस प्रणाली से पहले किसी के ध्यान में मनुष्य-जाति के कल्याण या समाज-व्यवस्था की कल्पना तक नहीं उठी थी—जिन्होंने इस सम्बन्ध की नींव डाली वे सपने में भी समाज का नाम नहीं जानते थे। इस प्रणाली का मूल खोजने जायँगे तो सब से पहले हमारी दृष्टि वहां पहुँचेगी जब अत्यन्त प्राचीन काल में सब से पहले मनुष्य-जाति का सुधार होने लगा या उस समय से (स्त्री पुरुषों में परस्पर स्वार्थसिद्धि के कारण और पुरुषों से स्त्रियों में बल और शरीर कुछ कम होने के कारण) कोई एक स्त्री किसी एक पुरुष के आश्रय में रहना पसन्द करती थी। अब भी क़ायदे बनाने और व्यवहार-पद्धति निश्चित करने का यही उपाय है कि मनुष्यों में जैसा सम्बन्ध व्यवहार में प्रचलित होता है, फिर उस ही के अनुसार उस पर इमारत खड़ी की जाती है। अर्थात् एक समय में जो सम्बन्ध व्यवहार के एक अंग विशेष होकर प्रचलित होते हैं, उन्हें ही पीछे से क़ानून-क़ायदे की संज्ञा मिलती है और समाज में वे सम्मानित होते हैं। सम्मानित होने से वे नियम समाज में संरक्षित होजाते हैं, केवल शारीरिक बल से अपने अधिकार स्थापित करने में जो टंटे-बखेड़े होते हैं वे ऐसी व्यवस्था से शान्त हो जाते हैं।

इस प्रकार की प्रवृत्ति का परिणाम यह होता है कि अब तक जो मनुष्य निरुपाय होकर पराधीनता में पड़े थे, या जो ज़ोर-ज़ुल्म से पराधीन रक्खे गये थे वे अब से नियमानुसार पराधीन समझे जाते हैं, अर्थात् उसके बाद वे क़ानूनन दास समझे जाते हैं। इतिहास में ग़ुलामी की जड़ इस ही प्रकार जमी है। प्रारम्भ में "लाठी उसकी भैंस" वाले नियम के अनुसार कमज़ोर आदमियों को बलवान् की ग़ुलामी में रहना पड़ता था, और बलवान् मनुष्य केवल अपनी शारीरिक सामर्थ्य पर निर्बलों को अपने आधीन रख सकता था। पर पीछे से ग़ुलामों के मालिक परस्पर अपनी रक्षा के लिए एक दूसरे से मिले—और सब ने अपनी सामर्थ्य मिला कर ऐसी व्यवस्था की कि एक दूसरे के ग़ुलाम और धन न हरण करें, इस ही प्रकार ग़ुलामगीरी अपने अस्तित्व में आई। अत्यन्त प्राचीन काल में सम्पूर्ण स्त्री-वर्ग को और पुरुष-वर्ग के बड़े भारी भाग को इस ही प्रकार ग़ुलामी भोगनी पड़ती थी। यह नियम बहुत शताब्दियों तक रहा। इस काल में उच्च शिक्षा से शिक्षित होकर बहुत से मनुष्य सुज्ञानसम्पन्न हुए, किन्तु ऊपर कही हुई दोनों वर्गों की ग़ुलामी के विरुद्ध किसी को बोलने की हिम्मत न हुई, न किसीने इस प्रकार का ही प्रश्न उठाया कि समाज की उत्तम व्यवस्था के लिए इस प्रकार की ग़ुलामी आवश्यक भी है या नहीं। पर धीरे-धीरे इस प्रकार के विचार करने वाले पुरुष पैदा होने लगे; साथ ही मनुष्य-

समाज में और भी अनेक प्रकार के सुधार होते गये, इसका परिणाम यह हुआ कि योरुप के क्रिश्चियन राज्यों से पुरुषों की ग़ुलामी का सदा के लिए अन्त हो गया ; और स्त्रियों की ग़ुलामी का रूपान्तर होकर वह पराधीनता के मधुर वेष में वर्तमान है। किन्तु वर्तमान स्त्रियों की पराधीनता भी समाज का कल्याण सोच कर, अनुभव और परीक्षा के द्वारा स्थापित की हुई प्रणाली नहीं है—अर्थात् यह व्यवस्था भी समाज के द्वारा निश्चित होकर प्रचलित नहीं की गई। बल्कि स्त्रियों की वर्त्तमान पराधीनता उस ग़ुलामी का परिशिष्ट अंश है। यह ग़ुलामी जो आज ऐसा मधुर वेष और सौम्य रूप धारण किये दीखती है इसका कारण यह है कि जिन कारणों के प्रताप से मनुष्यों के आचार-विचार और व्यवहार में सुधार हुआ है, तथा मनुष्यों के पारस्परिक व्यवहार में न्याय और सहानुभूति का अधिक आदर किया गया है,—उन्हीं कारणों के व्यापार से मूल ग़ुलामी धीरे-धीरे सुधरती-सुधरती स्त्रियों की पराधीनता के सौम्य रूप को धारण कर सकी है। अपने अत्यन्त नीच पाशविक प्रारम्भ के असर के कारण इतने ज़माने पर ज़माने गुज़रते हुए भी वह ग़ुलामी अभी अस्तित्त्व-हीन नहीं हुई। केवल इतनी ही नींव पर यह रूढ़ि अभी तक टिक रही है, अन्यथा स्त्रियों की पराधीनता के विषय में कोई दार्शनिक अनुकूल अनुमान नहीं निकल सकता। यदि कोई अनुकूल अनुमान निकालने की कोशिश करेगा तो वह इतना

भर कह सकता है कि, ऐसे दूषित मूल से उत्पन्न हुई अन्य रूढ़ियाँ जब नष्ट होगईं तब केवल एक यही रूढ़ि अस्तित्व में रह सकी है, और स्त्री-पुरुषों में विषमता रखने वाली चाल "लाठी उसकी भैंस" वाले तत्त्व से प्रकट हुई है।

६—यह बात सुन कर लोगों को आश्चर्य होता है, यह बात भी हमारे लिए अच्छी है। इस ही के कारण सुधार का प्रवाह दिन प्रतिदिन आगे बढ़ता जाता है, और मानवी रीति-नीति सुधरती जाती है, इसमें इसका विश्वास होता है। संसार में सब से अधिक उन्नत दो एक देशों की दशा इस समय इस स्थिति पर पहुँच गई है कि उन्होंने "लाठी उसकी भैंस" वाला तत्त्व सर्वथा त्याग दिया है। यह न्याय अब किसी को पसन्द नहीं है, प्रत्येक देश में मनुष्यों का पारस्परिक सम्बन्ध इस न्याय का घोर विरोध करता है। इतना होने पर भी यदि किसी समय किसी को स्वार्थ के लिए "लाठी उसकी भैंस" वाले नियम पर चलने की आवश्यकता होती है, तो वह समाज की किसी न किसी भलाई का बहाना अपने आगे अवश्य रखलेता है। वस्तुस्थिति इस प्रकार की होजाने के कारण लोग अपने मन का समाधान करने लगे हैं कि अब केवल ज़ोर-ज़ुल्म से काम निकाल लेने के दिन बीत गये, और पहले समय के जो व्यवहार रीति-नीति के रूप में इस समय तक वर्तमान हैं, वे "लाठी उसकी भैंस" वाले नियम के अंश विशेष नहीं हैं। इस समय लोगों

को रूढ़ियों, रीति-रिवाजों और पुरानी बातों के लिए यह लगता है कि प्रारम्भ में ये रीतियाँ चाहे जिस प्रकार से प्रचलित होगई हों, किन्तु वे मनुष्य-स्वभाव के अनुरूप अवश्य है, और मनुष्य-समाज की सर्वथा हित और कल्याण की साधक हैं,—पिछले लोगों की इस प्रकार की पक्की समझ होनी चाहिए—अन्यथा आज-कल के उन्नत काल में वे कभी टिक ही नहीं सकती थीं। किन्तु इस प्रकार का अनुमान करते समय लोग यह नहीं सोचते कि, जो आचार-विचार, रीति-रिवाज सबल पक्ष को तमाम अधिकार सौंप देता है—वह साधारणतया सजीव और चिरस्थायी होता है, और लोग उसके चिमटे रहते हैं, इस ही प्रकार जिन मनुष्यों को सत्ता या अधिकार प्राप्त होते हैं, उनकी भली या बुरी मनोवृत्तियाँ उन्हें सदैव प्रेरणा करती रहती हैं कि वे अधिकार सदा उन्हीं के हाथ में रहें। इसके अलावा ऊपर लिखा हुआ अनुमान करने वालों को शायद यह भी नहीं मालूम है कि ऐसी ख़राब रूढ़ियाँ धीरे-धीरे अस्त होती जाती हैं; उन में भी जो सब से अधिक निर्बल होती हैं और जीवन के दैनिक व्यवहारों से जिनका सम्बन्ध स्वल्प होता है वे सब से पहले नष्ट होती है, और बाक़ी बलवान् रूढ़ियाँ भी धीरे-धीरे निर्जीव होती है। ऊपर का विचार करने वालों के दिलों में शायद यह बात भी नहीं आती कि, शारीरिक और आर्थिक सामर्थ्य-सम्पन्न होने के कारण समाज का जो दल क़ायदे क़ानून को अपने

अनुकूल बना लेता है, वह अनुकूलता तब तक नष्ट नहीं होती जबतक दूसरे पक्ष की सत्ता और शारीरिक सामर्थ्य पहले दल के समान नहीं हो लेती। बलवान् पक्ष से नियमों को अपने अनुकूल बनवा लेने योग्य शारीरिक सामर्थ्य आज तक कभी स्त्रियों को प्राप्त नहीं हुई, इसके अलावा और भी कई विशिष्ट कारणोंवश स्त्रियों की दशा आज तक जैसी की तैसी ही रही. इसलिए "लाठी उसकी भैंस" के तत्त्व पर स्थापित की हुई स्त्रियों की पराधीनता, अन्य सब रूढ़ियों से विशेष बलवान् होने के कारण सब से पीछे नष्ट होगी। दूसरे सैंकड़ों सामाजिक सम्बन्ध और रीति-रिवाज लोगों ने न्याय के अनुसार बदल डाले हैं, किन्तु शक्ति के नियमों पर रचे हुए सामाजिक सम्बन्धों में ये सम्बन्ध जैसे का तैसा चला आ रहा है—यदि स्त्रियों की प्रकृत निर्बलता और ऐसे ही कुछ कारणों पर विचार करेंगे तो यह स्वाभाविक ही मालूम होगा। सब प्रकार के संयोगों पर विचार करते हुए मालूम होगा कि यह ऐसा ही होना चाहिए था। लोगों के नियम-उपनियम और क़ायदे-क़ानून समय समय पर सुधरते रहने के कारण उनका जैसा नया स्वरूप बन गया है, उन में केवल यही रूढ़ि अपवाद के समान बच रही है, वह भी इन कारणों से स्वाभाविक ही है। जब तक स्त्रियों की पराधीनता की उत्पत्ति के सच्चे कारणों को लोग न समझेंगे, और उस पर वाद-विवाद होकर उनका सच्चा स्वरूप सब की दृष्टि के सामने न

आवेगा, तब तक लोगों के ध्यान में यह बात भी न आवेगी कि इस उन्नति के ज़माने में स्त्रियों की पराधीनता ही एक कलङ्क शेष है। यह बात विशेष आश्चर्य दिलाने वाली भी नहीं है, क्योंकि पुराने ग्रीक लोग अपने राज्य को स्वतन्त्र मानते थे और उन्हें अपने व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य का अभिमान भी था,—किन्तु इतना होने पर भी उन में गुलामों का व्यापार प्रचलित था।

७—वास्तव में बात यह है कि पिछली चार-पाँच पीढ़ियों और अब के मनुष्यों को मानव-जाति की पूर्व-स्थिति का बिल्कुल ज्ञान नहीं है कि वह कैसी थी। इसलिए वे थोड़े से पुरुष जो ऐतिहासिक ज्ञान के मर्म्मज्ञ हैं, और वे सूक्ष्म निरीक्षक जो प्राचीन काल के मनुष्यों के नमूने स्वरूप अब भी अवशेष कुछ देशों के जंगली मनुष्यों को भलीभाँति देख चुके हैं,—वे ही अपने मन में कल्पना कर सकते हैं कि अत्यन्त प्राचीन काल में मनुष्य-समाज की स्थिति किस प्रकार की होगी। अत्यन्त प्राचीन काल के जीवन-व्यवहार में "लाठी उसकी भैंस" और "ज़मीं जोरू ज़ोर की, ज़ोर घटे पर औरकी" न्याय का कितना अधिक प्राबल्य था—और लोग खुल्लमखुल्ला किस प्रकार इसका प्रतिपादन करते थे, यह बात इस समय के लोगों को विन्दु-विसर्ग मात्र भी मालूम नहीं है। मैं यह कहना नहीं चाहता कि उस समय के लोग इस न्याय को "उद्धतता" या "बेशरमी" से प्रकट करते थे क्योंकि ऐसे

शब्दों से हम संकोच करते हैं। किन्तु यह भी सत्य है कि उस समय के लोगों में यह कल्पना भी कहाँ से हो सकती थी कि जो कुछ हम कर रहे है उस में कुछ बुराई का भी अंश है। किसी भूले-भटके तत्त्वज्ञानी या साधु पुरुष के हृदय में यह कल्पना कभी उठी होगी तो उठी होगी; बाक़ी लोगों को तो इसका ख़याल भी नहीं हो सकता था। इतिहास हमें मनुष्य-स्वभाव का बड़ा ही भद्दा अनुभव देता है। इतिहास देखने से मालूम होता है कि संसार की प्रत्येक जाति और क़ौम यह सिद्धान्त दृढ़ता के साथ मानती थी कि सम्पत्ति और सम्पूर्ण ऐहिक सुख केवल शारीरिक पराक्रम पर ही अवलम्बित है, शस्त्रधारी अथवा शारीरिक बल-सम्पन्न राजा या अधिकारी मनमाना ज़ुल्म करने पर भी जो उनका विरोध करता था उसको वे पूरी दुर्दशा करते थे और मनुष्य की कल्पना के द्वारा जो कड़ी से कड़ी सज़ा सूझ सकती है वह उसे देते थे। अपने से कम सामर्थ्य वाले निम्न श्रेणी के मनुष्यों का भी कुछ हक़ है और उनके प्रति हमारा अमुक प्रकार का कर्त्तव्य है, उच्च श्रेणी वाले सबल मनुष्यों के हृदयों में यह कल्पना यदि कभी कुछ स्थान पाती थी तो उस ही समय कि जब उन्हें अपनी किसी अनुकूलता के लिए निर्बल मनुष्यों को कोई वचन देना पड़ता था। ऐसे वचन सौगन्द खाकर या विधि-पूर्वक प्रतिज्ञा करके करने पर भी अत्यन्त क्षुद्र कारण से या किसी छोटे-मोटे लालच के वश

में होकर उच्च श्रेणी वाले सबल मनुष्य तोड़ देते थे और अपने वचन का निःशंक उल्लङ्घन कर डालते थे। यह क्रम मनुष्य-समाज में बहुत समय तक चलता रहा था, किन्तु निर्बलों के हृदयों में इससे निरन्तर चोटें अवश्य लगीं। प्राचीन काल का प्रजासत्तात्मक राज्यतन्त्र एक प्रकार का पारस्परिक समझौता था, या समान शक्ति वाले पुरुषों का एक गिरोह अपने लिए जो राज्यतन्त्र निर्माण करता था उसे प्रजासत्तात्मक राज्य के नाम से पुकारते थे। इस प्रकार प्रजासत्ताक राज्यतन्त्र "लाठी उसकी भैंस" वाले न्याय से कुछ भिन्न प्रकार के बन्धनों से जकड़ा हुआ मनुष्यों का पारस्परिक सम्बन्ध है—इतिहास में केवल शक्ति से कुछ भिन्न यह पहला ही उदाहरण है। यद्यपि "बलवान् के दो भाग" वाला न्याय राज्य के निवासी और ग़ुलामों में वैसे का वैसा ही बना था, फिर भी कुछ अंशों में प्रजासत्ताक राज्य और प्रजा तथा अन्य आस-पास के राज्यों से कुछ ऐसा ही सम्बन्ध था, इतना होने पर भी इस पेचीली घाटी में से शक्ति के नियम को स्थानभ्रष्ट करने वाली क्रिया पैदा हुई,—उस समय से ही कहना चाहिए कि मनुष्य-स्वभाव की वास्तविक उन्नति प्रारम्भ हुई; क्योंकि पीछे से जिन आवश्यक अंगों की पूर्त्ति हुई उन मनोवृत्तियों का प्रादुर्भाव उस ही समय से होने लगा था; और एक बार उनके प्रादुर्भाव हो जाने पर फिर पोषण का ही काम बाक़ी रह गया था। सब से पहले स्वाधीन राज्यों

में ही इस बातका ख़याल पैदा हुआ था कि यद्यपि ग़ुलाम लोकसत्ताक राज्यतन्त्र के भागीदार नहीं हैं फिर भी एक मनुष्य होने के कारण एक मनुष्य के समान हक़दार हैं। यहूदी लोगों के क़ायदों में यह बात मिलाई गई थी कि ग़ुलामों के प्रति उनके मालिकों का अमुक-अमुक कर्त्तव्य है और उन्हें वह पूरा करना चाहिए। स्टोइक (The Stoics) * लोगों ने सब से पहले इस तत्त्व को नीतिशास्त्र में मिलाया और प्रकट में लोगों को इसकी शिक्षा दी। ईसाई मत का पूर्ण प्राबल्य होने के अनन्तर इस सिद्धान्त को न मानने वाला पुरुष भाग्य से ही कहीं दिखाई देता था, और कैथोलिक सम्प्रदाय के प्रकट होने के बाद तो इसकी शिक्षा देने वाले और इसे पालन कराने वाले पुरुष पैदा न हुए हों यह असम्भव है। इस प्रकार की दशा होने पर भी क्रिश्चियन मतावलम्बियों को ग़ुलामी के विरुद्ध आन्दोलन करने में बड़ा भारी प्रयत्न करना पड़ा था। एक हज़ार वर्ष से भी अधिक समय तक ईसाई धर्म ग़ुलामी को उठाने के प्रयत्न में लगा रहा। फिर भी जितनी सफलता इसे होनी चाहिए थी उतनी न हुई। इसका कारण यह नहीं है कि क्रिश्चियन

---

* प्राचीन ग्रीक लोगों में स्टोइक नामक एक तत्त्ववेत्ताओं का पन्थ था। उनका सिद्धान्त था कि आत्म-संयम के द्वारा मनोविकारों को मारना चाहिए और इन्द्रिय-जय प्राप्त करना चाहिए। इस विश्व का कर्त्ता परमात्मा है, उसका उद्देश शुभ है, इसकी योजना प्राणिमात्र के सुख के लिए है और मंगलमय है।

धर्म का प्रभाव कम था। बल्कि इसकी शक्ति बड़ी प्रबल होगई थी। इसका प्रभाव इतना बढ़ा हुआ था कि राजा और उमराव अपनी अपार सम्पत्ति धार्मिक प्रभावना के लिए दे डालते थे। इस धर्म की शिक्षा पर विश्वास रख कर, हज़ारों मनुष्य अपनी आत्मा को मुक्त करने के लिए अपने जीवन के सम्पूर्ण ऐहिक सुखों और लालसाओं का परित्याग कर देते थे और दरिद्रावस्था स्वीकार करके भक्ति और प्रार्थना में जीवन बिता देते थे। इस धर्म की शक्ति इतनी व्याप्त थी कि पैलेस्टाइन वाली महापुरुष की समाधि को विधर्मियों के हाथ से मुक्त करने के लिए हज़ारों-लाखों वीर यूरोप और एशिया के समुद्रों और पर्वतों को लाँघते हुए अपनी जान की परवा न करके आजुटे थे। इसकी सामर्थ्य ऐसी अलौकिक थी कि इसकी आज्ञा के आधीन होकर बड़े-बड़े सार्वभौम राजा अपनी अत्यन्त प्रेमपात्री रानी का सम्बन्ध सदा-सर्वदा के लिए त्याग देते थे, क्योंकि धर्माध्यक्ष यह सिद्धान्त निकालते थे कि इस रानी के साथ वाला सम्बन्ध सात पीढ़ी के भीतर का है, अतएव शास्त्र-निषिद्ध है (किन्तु वास्तव में वह सम्बन्ध चौदह पीढ़ी से भी परे का होता था)। क्रिश्चियन धर्म का इतना प्रबल प्रताप होने पर भी वह मनुष्यों को पारस्परिक युद्ध करने की नीच मनो-वृत्तियों पर अंकुश नहीं रख सका; और लोग जो अपने गुलामों और निर्बल आश्रितों पर अत्याचार करते थे उसे किसी प्रकार दूर न हटा सका। फौजी ताक़त से कमज़ोर

राज्यों को जीत कर गुलाम बनाना और जीती हुई प्रजा पर अत्याचार करना इन में से किसी बात को भी प्रबल धार्मिक शक्ति न रोक सकी। इस घोर अशान्ति को रोकने की इच्छा भी लोगों को नहीं मालूम होती, किन्तु जब एक ज़बर्दस्त ताक़त सब की स्वाधीनता हड़प लेती तब यह खटपट शान्त होती थी। इस प्रकार जब संसार में राजाओं की वृद्धि हुई तब लोगों का निज़ू कलह ठण्डा पड़ा, किन्तु इस समय से राजा-राजा में और राज्यपद पाने के लिए उत्तराधिकारियों में वही शक्ति का नियम प्रधान बन गया। जिस समय से लड़ाई के लिए क़िलेबन्दियाँ की जाने लगीं और कोट के द्वारा रक्षित नगरों में धनसम्पन्न और शौर्यशाली पुरुषों की वृद्धि होने लगी, तथा मध्यम श्रेणीवाले लोगों के रिसाले और पलटनें युद्ध के लिए शिक्षित किये जाने लगे—तभी निर्बल और सामान्य वर्ग वाले मनुष्यों पर से उमरावों का कड़ा ज़ुल्म कुछ अंशों में कम हुआ। ज़ुल्म भोगनेवाला यह वर्ग बहुत बार अपने वैर का बदला लेना नहीं भूला; जब से उन्हें अपनी शारीरिक सामर्थ्य दिखाने का अवसर मिला तब से बहुत समय पीछे तक बलवान् उमरावों का ज़ुल्म वैसे ही होता रहा। इस प्रकार का अन्याय-अत्याचार यूरोप के अन्यान्य देशों में फ्रान्स की राज्यक्रान्ति के समय तक प्रच-लित था। केवल इङ्गलैण्ड में मध्यम श्रेणी वालों का संघ अच्छे ढाँचे पर होगया था और नियमों में भी उचित परि-

वर्त्तन होगया था। यहीं से लोक-सत्ताक राज्य की नींव डाली गई जिससे तमाम झगड़ा शान्त होगया।

८—मनुष्य-जाति की उत्पत्ति से एक बड़े लम्बे अर्से तक लोगों के साधारण व्यवहार में शक्ति का नियम यानी "लाठी उसकी भैंस" प्रचलित रहा है; इससे भिन्न प्रकार का न्याय किन्हीं ख़ास प्रसङ्गों पर विशेष कारणों से ही संगठित हुआ है—और वह बहुत कम कहीं दिखाई पड़ता है। इसके साथ ही हम इस बात का भी दिग्दर्शन ऊपर करा चुके हैं कि जब से लोग पारस्परिक व्यवहार में किसी नीति-मार्ग का अनुसरण करके चलने की आवश्यकता समझने लगे—उस समय को भी कोई लम्बा ज़माना नहीं गुज़रा। जिन रूढ़ियों और रीति-रिवाजों की उत्पत्ति बलात्कार के नियम पर हुई है उन रूढ़ियों को कोई विचारज्ञ और होशियार आदमी अपने समय में प्रचलित करना कभी योग्य न समझेगा, किन्तु वैसी रूढ़ियाँ और रीति-रिवाज सुधरे हुए ज़माने में भी अनेक पीढ़ियों तक मौजूद रहते हैं और लोगों में वे सम्मान की दृष्टि से देखे जाते हैं—और लोगों को न इसकी ख़बर होती है और न उनकी समझ में आता है। अब से केवल चालीस वर्ष पहले * इङ्गलैण्ड में क़ायदे के अनुसार लोगों

---

* पाठकों को स्मरण रखना चाहिए कि मूल ग्रन्थ सब से पहली बार १८६९ ई० में प्रकाशित हुआ था। इङ्गलैण्ड में जो लोग सेना या नौसेना में भरती होते थे उन्हें जबरदस्ती विदेश ले जाने की चाल थी, उसे Impressment कहते थे।

को इजाज़त थी कि वे अपने बाप दादे की सम्पत्ति के समान गुलामों को ख़रीद-फ़रोख़् करें और यह चाल तो अब तक थी कि आदमी को चुरा कर दूर-देश लेजाते थे और वहाँ उससे मौत के बिछौने पर सोने तक बेरहमी के साथ काम करवाते थे। बलात्कार के नियम का यह अत्यन्त उग्र और अन्तिम स्वरूप है। बलात्कार के नियम का यह भयङ्कर और निन्द्य व्यापार उन मनुष्यों को भी बुरा लगे बिना नहीं रह सकता जो अनियन्त्रित राज्यसत्ता के सब से अधम कार्य को भी क्षमा करने के लिए तैयार रहते हैं; तथा जो मनुष्य निष्पक्ष बुद्धि से विचार करेंगे उन्हें तो इसके स्मरण मात्र से ही रोमाञ्च हो आवेगा। फिर यह स्थिति अत्यन्त प्राचीन काल की नहीं है, बल्कि अपने आप को उन्नत गिनने वाले और ईसाई धर्म का अभिमान रखने वाले इङ्ग-लैण्ड देश में थोड़े समय पहले यह प्रथा थी, और उस प्रथा के अनुकूल सरकारी क़ायदा था—इस बात का प्रमाण देने वाले बहुत से मनुष्य तो अब तक जीते भी होंगे। इस ही प्रकार अँगरेज़ों के बसाये हुए अमेरिका के आधे से अधिक भाग में कुछ समय पहले ही ग़ुलामी की चाल थी,—वह चाल केवल चाल ही न थी, बल्कि ग़ुलामों के ख़ास बाजार थे जिन में घी शक्कर की तरह उनकी ख़रीद-फ़रोख़ होती थी और उन बाज़ारों में ग़ुलाम पहुँचाने के लिए बड़े-बड़े कारख़ाने थे जो दूसरे देशों से निर्दोष आदमियों को पकड़-

पकड़ कर ग़ुलामी का बाज़ार आबाद रखते थे। ऐसी स्थिति होने पर भी साधारण लोगों का उनसे विशेष सम्पर्क न रहने के कारण लोकमत उनके विरुद्ध था। ख़ास करके इङ्गलैण्ड में ग़ुलामी के व्यापार को पसन्द करने वालों की तादाद बहुत ही कम थी; क्योंकि यह तो प्रकट ही था कि गुलामों के व्यापार का उद्देश्य धन कमाना था और जिन लोगों को इस प्रथा के प्रचलित रहने में लाभ था उनकी संख्या देश के लोगों से बहुत ही कम थी, तथा जिनका इससे किसी प्रकार सम्पर्क न था वे इसे तिरस्कार की दृष्टि से ही देखते थे। मैं समझता हूँ कि यह सब से अधम दृष्टान्त सब के समाधान के लिए काफ़ी होगा। किन्तु यदि और भी किसी उदाहरण की आवश्यकता हो तो एकसत्ताक राज्यतन्त्र की ख़ूबियाँ देखिए। समग्र देश भर की प्रजा पर बिना किसी रोक-टोक और क़ायदे-क़ानून के एक मनुष्य जो मनचाही हुकूमत करे उस ही का नाम एकसत्ताक राज्यतन्त्र है; यह एकसत्ताक राज्यतन्त्र संसार में कितने लम्बे अर्से तक टिका रहा! इस समय इङ्गलैण्ड ही नहीं बल्कि सब देशों का विश्वास हो चुका है कि फौज की मदद से एक आदमी जो लाखों-करोड़ों आदमियों पर राज्य भोगता है, वह "लाठी उसकी भैंस" के नियम का-दूसरा प्रकार है; इसके अलावा एकसत्ताक राज्य-पद्धति की कोई उत्पत्ति हो ही नहीं सकती। इतना होने पर भी कुछ देशों को छोड़ कर प्राय· सब कहीं आज भी बड़े-

बड़े राज्यों का स्वामी एक ही मनुष्य है, और जिन देशों से इस प्रकार की एकसत्ताक राज्यपद्धति उठाई गई है उन्हें कोई लम्बा काल नहीं बीता; इसके अलावा प्रत्येक देश में प्रत्येक श्रेणी वाले मनुष्यों से से और ख़ास करके अमीर-उमराओं में से ऐसे बहुत पाये जाते हैं जो अब भी एक मनुष्य के आधीन होना पसन्द करते हैं। मतलब यह है कि कोई पद्धति या प्रणाली एक बार लोगों में रूढ़ होजानी चाहिए—फिर वह लोगों के दिलों में अपने लिए बहुत कुछ जगह कर लेती है। यह पद्धति कभी सर्वव्यापिनी न हो सकी होगी, और इतिहास में इससे भिन्न प्रकार की पद्धतियाँ एक ही समय में मिलती हैं, तथा वे उदाहरण उस समय की अत्यन्त पराक्रमी और आबादी में बढ़ से अधिक पहुँची हुई जातियों में से ही मिलते हैं। फिर भी वह पद्धति रूढ़ हुई इसीलिए लोगों के दिलों में इतनी जगह कर सकी।

अब ज़रा इसका दिग्दर्शन कीजिए कि लोग जिसका पक्षपात करते हैं वह एकसत्ताक राज्यतन्त्र कैसा होता है। निरंकुश होकर उस सम्पूर्ण राज्य को एक आदमी भोगता है, प्रत्यक्ष रीति से उस राज्य के द्वारा केवल एक ही आदमी का फ़ायदा दीखता है,—उस आदमी को लोग राजा कहते हैं; और बाक़ी जो लाखों-करोड़ों उस राज्य में होते हैं वे सब उसके आधीन होते हैं, उनकी संज्ञा प्रजा है। जो मनुष्य

राज्य भोगता है और जिसे बाद में राज्य मिलने की उम्मीद होती है, उन दोनों को छोड़ कर उस राज्य के सब मनुष्य पराधीन होते हैं; और पराधीनता वास्तव में मनुष्य की बेइज्ज़ती है। अब ऊपर वाले उदाहरण से सोचो कि स्त्रियों की पराधीनता में और एकसत्ताक राज्य की पराधीनता में क्या अन्तर है। इस बात से यह मत ख़याल करना कि मैं अभी स्त्रियों की पराधीनता के योग्यायोग्य पर विचार किये डालता हूँ। इस स्थान पर मैं केवल इतना ही सिद्ध करना चाहता हूँ कि ऊपर दिखाये हुए पराधीनता के प्रकार बहुत ही कमज़ोर थे और वे अधिक समय तक टिकने वाले न थे—फिर भी आज तक टिके हुए हैं। अर्थात् अनियन्त्रित एकसत्ताक राज्यपद्धति के द्वारा केवल एक ही आदमी का लाभ होता है और इसे नष्ट कर डालने पर बाक़ी सब को लाभ पहुँचता है, किन्तु इतना होने पर भी एकसत्ताक राज्यपद्धति टिकी हुई है और इसका समर्थन करनेवालों की संख्या भी अल्प नहीं है। फिर जिस स्त्रियों की पराधीनता से प्रत्येक पुरुष का कुछ न कुछ लाभ है, वह पराधीनता यदि बड़े लम्बे समय तक टिकी रहे तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

आदमी के मन की यह एक स्वाभाविक चाल है कि वह हुकूमत की डोर अपने हाथ में चाहता है; प्रत्येक मनुष्य अपने हाथ में कुछ अधिकार होने से अपने आप को बड़ा समझता है, और अधिकार पाने की हौंस प्रत्येक को होती

है। स्त्रियों को अपनी आधीनता में रखने का लोभ केवल एक ही मनुष्य या एक ही देश वालों को नहीं होता बल्कि सम्पूर्ण पुरुष-समाज स्त्री-समाज को अपने अधिकार में रखना चाहता है। स्त्रियों को अपनी आधीनता में रखना, यह एक ही प्रकार का लोभ है, और केवल इस ही के लिए पुरुष इस सत्ता को दृढ़ता से अपने अधिकार में नहीं रक्खे हुए हैं। जैसे बड़े-बड़े राज्यों में राजकीय पक्ष सिद्ध करने के लिए बहुत कुछ प्रकार घटा करता है, किन्तु जिस प्रकार उससे कुछ नेताओं और मुखियों का ही लाभ होता है और बाक़ी के लिए वह काण्ड किसी मतलब का नहीं होता, इस विषय में वह प्रकार भी नहीं होता। किन्तु एक कुटुम्ब का नेता, और फिर वह चाहे कहीं का नेता होना चाहता हो,—ऐसे प्रत्येक मनुष्य को अधिकार प्राप्त करने की हौंस होती है और इसमें उसका निजू स्वार्थ मिला होता है। कोई राजा हो चाहे रंक और भिखारी हो चाहे उमराव उसकी इच्छा इस प्रकार की होती ही है। संसार में अधिकार ऐसी लुभाने-वाली चीज़ है कि उसके प्राप्त करने और उसका उपभोग करने की प्रत्येक की इच्छा होती है। यद्यपि सत्ता का लोभ प्रत्येक मनुष्य को होता है, किन्तु जिनके साथ उसका निकट से निकट सम्बन्ध होता है, जिनके साथ उसे अपना सम्पूर्ण जीवन बिताना पड़ता है, यदि वे मनुष्य उसकी आधीनता में न रह कर स्वाधीनता से बरतें तो उसके निजू हित और

स्वाधीन व्यापार में अन्तर पड़ना सम्भव है, इसलिए उन मनुष्यों को अपने अधिकार में रखने की इच्छा सब से अधिक प्रबल होती है। ऊपर केवल सत्ता के ज़ोर पर जिन अधिकारों के प्राप्त करने के उदाहरण दिये गये हैं, उनकी रचना केवल अन्याय, अत्याचार और ज़ुल्म पर हुई थी, साथ ही उनका अस्तित्व टिकाये रखने वाले कोई सबल कारण भी न थे, फिर भी उन्हें नष्ट करने में इतनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा और इतना समय लगा,—ऐसी दशा में यदि स्त्रियों की पराधीनता केवल अन्याय के ऊपर ही रची गई हो तब भी उसके नाश होने में अधिक से अधिक समय लगे और बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़े तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

फिर इस विषय में एक बात और भी विचारने योग्य है कि इस समय जिस वर्ग के हाथ में अधिकार है उसे स्वाधीन और अपने अनुकूल साधनों की कमी नहीं है, उनके हाथ में इतना बड़ा अनुकूल साधन है कि यदि वे चाहें तो यह विरोध अपने आधीन-वर्ग के सामने उपस्थित ही न होने दें। प्रत्येक स्त्री प्रत्येक पुरुष की आधीनता और देख-रेख में रहती है; और देख-रेख ही क्यों, स्त्री पुरुष के बिल्कुल क़ाबू में रहती है। स्त्री का जितना अधिक निकट सम्बन्ध पुरुष से होता है उतना किसी स्त्री के साथ भी नहीं होता, इसलिए स्त्री-समाज को पुरुष-समाज के विरुद्ध आन्दोलन

करने का कोई साधन मिल ही नहीं सकता, और पुरुष को अपने काबू में करने योग्य सामर्थ्य स्त्री में होती ही नहीं। बल्कि पराधीन होने के कारण स्त्री को ऐसी ग़रज़ बनी रहती है कि वह अपने स्वामी की प्रसन्नता प्राप्त करे और ऐसी नम्र होकर चले कि पति की आँखों में किसी प्रकार न खटके। राजकार्यों में हम बहुत बार देखते हैं कि लोग बड़े ऊँचे अधिकारियों को कभी घूस देकर और कभी किसी प्रकार का भय दिखा कर अपना काम निकलवाया करते हैं। यदि स्त्री-समाज की ओर देखोगे तो प्रत्येक स्त्री घूस और भय की चक्की में पिसती हुई दीखेगी। स्वामिवर्ग के ख़िलाफ़ और आन्दोलन की मुखिया बनने वाली और आन्दोलन में शामिल होनेवाली स्त्रियाँ अपने सब प्रकार के सुखों से हाथ धो सकती हैं। अधिकार और ज़ोर-ज़ुल्म से जिन्हें पराधीनता प्राप्त हुई हो, और उस पराधीनता में लाचारी से विवश होकर जो अपना सिर भी न उठा सकते हों—ऐसी पराधीन दशा यदि किसी वर्ग की है तो वह केवल स्त्री-वर्ग की ही है। स्त्रियों के पराधीन रखने के अन्यान्य कारणों का उल्लेख मैंने अभीतक नहीं किया; फिर भी जिन मनुष्यों में विचार करने योग्य बुद्धि होगी उनके ध्यान में यह बात तो आ ही गई होगी कि वास्तव में स्त्रियों की पराधीनता अन्याय है और जिन अयोग्य रीतियों से यह अधिकार सम्पादन किया गया है—वे स्वाभाविक

रीति से ही अधिक समय तक टिकने वाले हैं। हम जब सोचते हैं कि ऊपर कहे हुए बहुत से निन्द्य प्रकार बहुत से सुधरे हुए देशों में अब भी प्रचलित हैं, और बहुत से देशों से अभी-अभी उठे हैं,—तब जिसका मूल सब से अधिक गहरा जमा है, वह स्त्रियों की पराधीनता यदि किसी देश में कुछ शिथिल हो गई तो आश्चर्य ही है। पराधीनता को स्थायी रखने वालों की संख्या सबसे अधिक ज़ोरदार है और तमाम प्रतिष्ठित पुरुष इस ही पक्ष में हैं।

८—कदाचित् लोग मेरे दृष्टान्तों पर आक्षेप करेंगे—यह तर्क उठावेंगे कि अयोग्य रीति से अधिकार सम्पादन करने के जो उदाहरण मैंने ऊपर दिये हैं, वे पुरुषों के द्वारा स्त्रियों की पराधीनता के विषय में घटने योग्य नहीं हैं। क्योंकि ऊपर वाले सब उदाहरण ज़ोर, जुल्म और अत्याचार के परिणाम हैं, और स्त्रियों पर पुरुषों का अधिकार तो स्वाभाविक है। पर मैं उनसे पूछता हूँ कि जिनके हाथ में अधिकार होता है, क्या उन्हें कभी ऐसा भी मालूम हुआ करता है कि मेरा बर्ताव स्वाभाविक नहीं है? फिर एक समय ऐसा भी था जब लोगों ने मनुष्यों के केवल दो ही विभाग कर रक्खे थे—एक सबसे छोटा विभाग मालिकों का था और दूसरा सब से बड़ा विभाग ग़ुलामों का था—और इस पर मज़े की बात यह थी कि मनुष्य-जाति का यह वर्गीकरण विचार-सम्पन्न पुरुषों को स्वाभाविक ही मालूम होता था। अरि-

स्टॉटल (अरस्तू) के समान बुद्धिमान् विचारज्ञ भी, जिसके द्वारा मनुष्यों के ज्ञान-भाण्डार की असीम वृद्धि हुई है, निःशङ्क होकर अपने ऐसे ही विचार प्रकट करता था; और लोग स्त्रियों की पराधीनता के विषय में जो सुबूत देकर इसे स्थायी रखना चाहते हैं, उन्हीं सुबूतों के आधार पर अरिस्टॉटल ने अपना सिद्धान्त स्थिर किया था। वे सुबूत ऐसे होते हैं कि, प्रकृति से मनुष्य-जाति के दो भाग होते हैं। बहुत से मनुष्य प्रकृति से स्वाधीनता के योग्य होते हैं और बहुत से परतन्त्र प्रकृति के होते हैं। ग्रीक लोग प्रकृति से स्वाधीनता के योग्य होने वाले मनुष्यों में से हैं, और थ्रेशिया (Thracians) तथा एशिया-खण्ड के जङ्गली आदमी परतन्त्र प्रकृति के हैं—और इसलिए थ्रेशिया और एशिया-खण्ड वाले मनुष्य ग्रीक लोगों के ग़ुलाम होने के लिये बने हैं। फिर हमें अरिस्टॉटल तक जाने की ज़रूरत ही क्या है? दक्षिण युनाइटेड स्टेट्स में ग़ुलामों के मालिक भी तो इन्हीं दलीलों से ग़ुलामी का प्रतिपादन करते थे; और ये बातें हमारे अनुभव में बहुत ताज़ी हैं कि लोग अपनी स्वार्थ-बुद्धि की योग्यता सिद्ध करने में और अपनी मनोवृत्तियों के न्यायपुरःसर बताने वाली दलीलों में कितनी बहुतायत से चिमटे रहते हैं, इस ही प्रकार उस समय के लोग ग़ुलामी को न्यायसङ्गत बताने के पक्ष में थे। क्या उन्हीं लोगों ने इस बात को सिद्ध करने में ज़मीन-आसमान के कुलावे नहीं मिला दिये कि

कुदरत से काले रंग वाले आदमी गोरों की गुलामी के लिए ही पैदा हुए हैं; काले लोगों पर गोरों का स्वामित्व रहना स्वाभाविक है*। काले लोग प्रकृति से ही स्वतन्त्रता के योग्य नहीं है, और उन्हें गोरों के दास बन कर रहना लाभदायक है, प्रकृति ने अपनी सृष्टि के लिये यही व्यवस्था की है, इन बातों को सिद्ध करने के लिए क्या उन्हों ने कोई कसर उठा रक्खी थी? उन्हीं लोगों में ज़ोर के साथ इस बात को कहने वाले आदमी भी थे कि, दुनिया के जिस हिस्से में तुम्हें यह नज़र पड़ जाय कि हाथ से काम करने वाले मज़दूर आज़ाद हैं तो वहीं कुदरत के खिलाफ़ समझ लो।

इस ही प्रकार एकसत्ताक राज्यतन्त्र के पक्षपाती सदा से यह प्रतिपादित करते आये हैं कि अनेक प्रकार की राज्य-प्रणालियों में अकेली यही प्रणाली स्वाभाविक है; इसका कारण यह है कि यह पद्धति अत्यन्त प्राचीनकाल से चले हुए कुटुम्ब-शासन के नमूने पर स्थापन हुई है और समाज की व्यवस्था बनी रखनेके लिये यह अत्यावश्यक और उपयोगी है। एक कुटुम्ब में जो स्थान पिता का है वही राज्य में राजा का है। इसके साथ ही यह बात भी है कि जिन्हें दूसरों को

---

* इस अवसर पर हमारे देश में "एल्बर्ट बिल" को पास करते समय अंगरेज़ों ने जो अंधाधुन्ध मचा दी थी उसका स्मरण हुए बिना नहीं रहता। साथ ही हमारा यह सिद्धान्त भी अभी-अभी ढीला पड़ा है कि शूद्र लोग उच्चवर्ण वालों की दासता के लिए ही पैदा हुए हैं।

अपने अधिकार में रखने की हौंस होती है, उन्हें यदि दूसरे की सत्ता के समर्थन में अन्य कोई योग्य कारण या दलील नहीं मिलती, तब उन्हें "लाठी उसकी भैंस" वाला नियम भी स्वाभाविक ही मालूम होता है। वे इस बात को साबित करते हैं कि जो ज़ियादा ताक़त वाला है वह अधिक अधिकार भोगी होगा। लड़ाई में जो पक्ष जीतता है वह भी यही कहता है कि हारने वालों को जीतने वालों के आधीन गुलाम बन कर रहना चाहिए, यही न्याय है, यही प्रकृति की आज्ञा है। इस ही बात को यदि सीधे शब्दों में कहें तो कह सकते है कि कमज़ोर आदमियों को बलवानों के अधिकार में रहना चाहिये।

इतिहास में जो समय मध्ययुग (Middle ages) के नाम से प्रसिद्ध है, उस समय के मनुष्य-स्वभाव का जिन्हें थोड़ा-बहुत अनुभव होगा, उन्हें मालूम होगा कि उमराव लोग अपने से नीची श्रेणी वाले मनुष्यों को अपने ताबे में रखना कितना स्वाभाविक समझते थे, और नीची श्रेणीवाले लोग उनकी बराबरी करने लगें, या उनसे अधिक अधिकार भोगने की इच्छा करें, तो इस प्रकार की कल्पना ही उन्हें बड़ी विलक्षण और सृष्टिक्रम-विरुद्ध जान पड़ती थी ॥ और पराधीनता भोगने वाले निचले वर्ग को भी यह बात विलक्षण मालूम होती थी। बहुत समय के बाद निम्न श्रेणी वालों ने झगड़-झगड़ा कर कुछ स्वाधीनता प्राप्त की थी, किन्तु उस

दशा में भी उच्च वर्ग वालों के सहभागी होने का दावा उन्होंने कभी नहीं किया। उनके प्रयत्न का उद्देश केवल इतना ही था कि उच्च वर्ग वाले जो उन पर रोक-टोक ज़ुल्म करते थे उसको कोई हद होनी चाहिये। ऊपर कही हुई इन सब बातों का सार यह निकलता है कि लोग जिसे "सृष्टिविरुद्ध" या "अस्वाभाविक" कहते हैं उसका मतलब सिर्फ़ "रूढ़िविरुद्ध" होता है; और जो बातें प्रचलित रूढ़ि और प्रचलित नियमों के अनुसार होती है वे सब लोगों को स्वाभाविक ही मालूम होती हैं—लोगों को उनके विषय में क़ुदरती-पन का ही सपना आया करता है। इस ही प्रकार स्त्रियों को पुरुषों के आधीन रहने की चाल सर्व-व्यापिनी और मामूली होने के कारण, इस चाल के ख़िलाफ़ जो कुछ कहा जायगा वह अपने आप लोगों को अस्वाभाविक और सृष्टिविरुद्ध मालूम होगा। पर एक-एक क़दम पर हम इस बात का अनुभव कर सकते हैं कि लोगों की इस तरह की समझ का बन जाना ही रूढ़ि है। पृथ्वी के दूर-दूर के देशों को जब इङ्गलैण्ड का परिचय मिलता है और वे सब से पहली बार सुनते है कि इस देश पर रानी का राज्य है—तब उन्हें इतना अचम्भा होता है जितना और किसी प्रकार नहीं हो सकता। यह बात उन्हें इतनी अचम्भे से भरी मालूम होती है, इतनी अस्वाभाविक और सृष्टिक्रम-विरुद्ध जान पड़ती है कि एकदम उनके मानने में ही नहीं आती; पर

इङ्गलैण्ड वालों को यह बात अचम्भा या अस्वाभाविक नहीं मालूम होती क्योंकि इससे वे परिचित हैं; पर इन्हीं अँगरेज़ों को यह बात अस्वाभाविक मालूम होगी कि औरतें पार्लिमेण्ट में बैठें और फ़ौजों में भर्ती हों। दूसरी ओर पुराने समय में युद्ध और राजकार्य में स्त्रियों का भाग लेना लोगों को अस्वाभाविक नहीं मालूम होता था, क्योंकि यह बात उस समय प्रायः सर्वमान्य थी। उस समय के लोगों की धारणा थी कि अधिकारी-वर्ग की स्त्रियां अपने स्वामियों से शारीरिक सामर्थ्य के सिवाय अन्य किसी बात में कम न होनी चाहिएं। ग्रीक लोगों की प्राचीन दन्तकथाओं में ऐमेज़ोन (Amazons) नामक युद्ध-कुशल स्त्रियाँ प्रसिद्ध हैं, इस ही प्रकार स्पार्टन लोगों ने अपनी स्त्रियों की वीरता के उदाहरण प्रत्यक्ष देखे थे, इसलिये उन्हें स्त्रियोंका स्वातन्त्र्य उतना विस्मयकारक नहीं मालूम होता था। न्याय और कायदे की दृष्टि से एक स्पार्टन स्त्री एक ग्रीक राज्य की स्त्री से अधिक स्वाधीन नहीं थी, किन्तु प्रत्यक्ष व्यवहार में उन्हें ज़ियादा आज़ादी थी, और व्यायाम तथा शारीरिक श्रम के कारण उनके शरीर पुरुषों के समान सबल और चुस्त होते थे, इसे उन्होंने बहुत बार प्रत्यक्ष उदाहरणों से भी सिद्ध कर दिया था। प्लेटो (अफ़लातून) ने अपना यह सिद्धान्त कि, सामाजिक और राजनैतिक विषयों में स्त्री-पुरुषों को समान अधिकार होने चाहिएँ—स्पार्टा देश की स्त्रियों को ही देख कर बनाया होगा, इस में सन्देह नहीं।

१०—अब कदाचित् कोई यह प्रश्न उठावेगा कि पुरुष स्त्रियों के जो अधिकार भोगता है, उस में अन्य प्रकार की सत्ताओं के अधिकारों से एक मुख्य भेद यह है कि इस सत्ता में ज़ोर-ज़ुल्म का नाम भी नहीं है। स्त्रियाँ पुरुषों के अधिकारों को प्रसन्नता से मञ्ज़ूर करती हैं; स्त्रियाँ पुरुषों के अधिकारों को एक दिन भी दोष नहीं देतीं,—बल्कि इस अधिकार को पुरुष स्त्रियों की इच्छा और सम्मति से ही भोगते हैं। सब से प्रथम तो अधिकांश स्त्रियां इसे स्वीकार ही न करेंगी। जब से ऐसी स्त्रियों की संख्या बढ़ने लगी है जो लेखों के द्वारा अपने मानसिक भावों को प्रकट कर सकती हैं तब ही से अपनी सामाजिक दशा पर असन्तोष प्रकट करनेवाली स्त्रियों की तादाद भी बढ़ी है, और इस समय तो बुद्धिमान और विचारज्ञ स्त्रियों को अपना नेता बना कर हज़ारों स्त्रियाँ पार्लिमेण्ट में प्रविष्ट होने और वहाँ अपनी सम्मति देने का अधिकार प्राप्त करने की कोशिश में हैं। साथ ही यह विवाद भी एक अर्से से चल रहा है कि पुरुषों को जितने विषयों की शिक्षा दी जाती है स्त्रियों को भी उन सब विषयों की शिक्षा दी जानी चाहिए, और इस विषय में उन्हें बहुत कुछ सफलता मिल भी चुकी है। और जिन उद्योग-धन्धों में नियमानुसार उन्हें प्रविष्ट होने की आज्ञा नहीं है, उन में प्रविष्ट होनेका प्रयत्न वे लगातार दृढ़ता के साथ कर रही हैं। यूनाइटेड

स्टेट्स में स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार दिलाने के लिए नियमित सभाएँ होती हैं और इस आन्दोलन को देश-व्यापी बनाने के लिए कई संस्थाएँ स्थापित हुई हैं। इङ्गलैण्ड में यद्यपि बड़े ज़ोर-शोर का आन्दोलन नहीं शुरू हुआ, फिर भी कई बड़ी-बड़ी सभाएँ इस प्रयत्न में लगी हैं और स्त्रियों के समान अधिकार की बात चल रही है। उनका उद्देश यह है कि पार्लिमेण्ट में सभासद बन कर देश के शासन में वे भी भाग ले सकें। अपनी पराधीनता की जञ्जीर तोड़ने के लिए अमेरिका और इङ्गलैण्ड की ही स्त्रियाँ प्रयत्न नहीं कर रही हैं, बल्कि, फ्रान्स, इटली, स्विज़रलैण्ड और रशिया में भी यह प्रयत्न चल रहा है। इसके अलावा जो स्त्रियाँ इस आन्दोलन में प्रत्यक्ष रीति से भाग नहीं लेतीं और अपनी महत्त्वाकांक्षा को मन ही मन दाब रखती हैं उनकी संख्या कितनी अधिक होगी यह बताना सर्वथा अशक्य है। फिर इस बात के मानने के सबल कारण है कि यदि पुरुषों की ओर से स्त्रियों में निरन्तर ऐसे भाव न ठूँसे जायँ कि स्त्रियों को यह महत्त्वाकांक्षा शोभा नहीं देती इसलिये इसे त्याग देना चाहिए, तो अवश्य स्त्रियाँ अपनी स्वाधीनता जल्दी ही लौटा लेवें।

फिर एक बात और ध्यान देने योग्य है कि जो वर्ग सर्वथा पराधीन होता है, वह कभी नहीं माँगता कि मुझे एक बार ही सम्पूर्ण स्वाधीनता मिल जाय। जब साइमन-

डी-माण्टफोर्ट (Simon-de-Montfort) ने सर्वसाधारण के प्रतिनिधियों को सब से पहिली बार पार्लिमेण्ट में निमन्त्रण दिया था, उस समय क्या किसी को सपने में भी यह खयाल हुआ था कि ये कुछ प्रतिनिधि ऐसे शक्तिशाली हो सकेंगे कि ज़रा इच्छा करते ही प्रधान मण्डल को बना और बिगाड़ सकेंगे, और राजकार्य में वे राजा पर भी हुकूमत कर सकेंगे? उन सब में जो सब से अधिक महत्त्वाकांक्षी होगा, उसकी कल्पना में भी उस समय यह बात नहीं आई होगी कि उच्च वर्ग वाले उमराव अवश्य एक लम्बे अर्से से इस अधिकार के भोगने की आशा कर रहे थे; किन्तु साधारण लोगों की इच्छा केवल इतनी ही थी कि राज्य को निरंकुश होकर कर बढ़ाने की सत्ता किसी मर्यादा के भीतर होनी चाहिए, और सरकारी अधिकारी जो प्रजा पर मनमाना अत्याचार करते थे वह बन्द होना चाहिए। राजनीति के विषय में प्रकृति का यह नियम मालूम होता है कि जो लोग पुराने समय से प्रचलित किसी सत्ता के आधीन हो जाते हैं, वे प्रारम्भ में उस प्रत्यक्ष सत्ता के विरुद्ध कुछ नहीं बोलते, किन्तु उस सत्ता का दुरुपयोग न हो या उसका हाथ ज़ुल्म तक न पहुँचे—यही प्रारम्भ में वे माँगा करते हैं। इस ही प्रकार अपने स्वामियों के अमानुषी व्यवहार के विरुद्ध बहुत सी स्त्रियाँ कहने को तैयार हैं, किन्तु जब वह दोष प्रकट किया जाता है तब पुरुष नाराज़ होते हैं और स्त्रियाँ सन्तप्त

के लिये उन्होंने शिक्षा के साधनों का स्वाधीनता-पूर्वक खूब ही उपयोग किया। प्रत्येक स्त्री के दिमाग़ में छुटपन से ही यह बात ठूँस-ठूँस कर भर दी जाती है कि उसकी रहन-सहन उसका चाल-चलन और व्यवहार बिल्कुल भिन्न प्रकार का होना चाहिए। उन्हें छुटपन से सिखाया जाता है कि अपनी इच्छा के अनुसार रहना, और केवल अपने अन्तःकरण को ही स्वाधीनता मान कर चलना स्त्री-जाति को शोभा नहीं देता। बल्कि स्त्रियों के लिए यह बात सब से अच्छी है कि वे दूसरों की इच्छा के आधीन होकर चलें। नीतिशास्त्र उन्हें उपदेश देता है कि स्त्रियों का जीवन तो दूसरों के लिए ही है; प्रत्येक व्यवहार में स्त्रियों को समझ लेना चाहिए कि हम कोई चीज ही नहीं है; और उन्हें समझ लेना चाहिए कि हमारा कर्त्तव्य तो केवल दूसरों के प्रेम की पात्री बन जाना मात्र है *। व्यवहार-शास्त्र भी स्त्रियों को यही उपदेश देता है कि पुरुषों की इच्छा के अनुसार बर्ताव करना ही स्त्रियों के लिये कुदरती बात है। स्त्रियों को जो दूसरों से प्रेम करने

---

* हमारे शास्त्रोंमें "न स्त्रीस्वातन्त्र्यमर्हति" (मनु अ० ५, श्लो० ३) 'न भजेत् स्त्रीस्वातन्त्र्य" (मनु० अ० ५, १४८) "स्वातन्त्र्यं न क्वचित् स्त्रिय" (याज्ञवल्क्य० अ० १ श्लोक ८५) आदि तो हैं ही, किन्तु स्त्री बाल्यावस्था में माता-पिता की आधीनता में रहे, विवाह के अनन्तर पति की पराधीनता में रहे और वृद्धावस्था में जवान पुत्र की आधीनता में रहे। यदि विधवा हो जाय और कोई निकट-सम्बन्धी न हो तो "तेषामभावे ज्ञातय" (याज्ञवल्क्य) जाति की आधीनता में रहे—किन्तु किसी समय भी स्त्री स्वाधीन न हो।

को शिक्षा दी जाती है, वह भी बहुतों से प्रेम करने की नहीं होती। बल्कि एक तो वह उस मनुष्य के साथ प्रेम करने योग्य समझी जाती है जिसके पैर में उसकी तक़दीर की रस्सी बाँधी जाती है और दूसरे अपने बालबच्चों से प्रेम करना उस का कर्त्तव्य समझा जाता है। क्योंकि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों का सम्बन्ध बच्चों से अधिक होता है। अब इस विषय में तीन बातें विचार करने योग्य हैं। प्रथम तो स्त्री-पुरुषों में एक दूसरे का स्वाभाविक आकर्षण, दूसरे स्त्रियों को प्रत्येक विषय में अपने स्वामियों पर ही आधार रखना पड़ता है,—क्योंकि स्त्रियाँ जो कुछ सुख और जो कुछ स्वाधीनता भोग सकती हैं वह केवल अपने स्वामियों की प्रसन्नता ही पर पा सकती हैं—और जब तक वह अपने स्वामी की इच्छा के अनुसार चलती हैं तभी तक उन्हें कुछ आज़ादी मिलती है; तीसरे स्त्रियों का जन्म सार्थक होना, उनको सम्मान मिलना, उनके सामाजिक रुतबे में कुछ बढ़ाना—आदि बातें स्थूल रूप से स्त्रियों को केवल अपने स्वामियों से ही मिलती है। जब हम इन तीनों बातों पर विचार करते हैं, तब स्त्रियों को पुरुषों की प्रेमपात्री बनना ही चाहिए, उनकी प्रसन्नता प्राप्त करनी ही चाहिए, पति के मन-चाहे ढँग से रहना ही चाहिए,—इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। स्त्रियों के मन पर अधिकार करने का जब यह पूरा ढँग (शिक्षा) पुरुषों के हाथ लग गया तब उन्होंने अपने स्वार्थ-साधन के लिए ऐसे तरीके

से इसका उपयोग जारी रक्खा कि जिस से वह सब से अधिक असरकारक हो और इसकी सैंकडों युक्तियाँ उन्होंने निकाल लीं। इस साधन के द्वारा स्त्रियों को सर्वथा अपने आधीन बनाये रखनेके लिए पुरुषों ने उपदेश करना शुरू किया कि,—"यदि तुम्हें स्वामियों को अपने वश में करना हो, स्वामियों की दृष्टि में सब से अधिक सुन्दरी दीखने की इच्छा हो, उन की प्रसन्नता प्राप्त करना चाहती हो तो तुम्हें नम्रता, सहन-शीलता, सन्तोष, भक्ति, पति में श्रद्धा, आज्ञाकारिणी बनना—आदि-आदि गुण सीखो। और किसी विषय में पति की इच्छा के विरुद्ध न होकर उसकी इच्छा के अनुसार चलो।" ऐसे-ऐसे जिन अचूक साधनों के द्वारा पुरुषों ने स्त्रियों को परा-धीन बनाया है, यदि इन्हीं साधनों का उपयोग ग़ुलामों पर किया जाता, तो मनुष्य-जाति जिस ग़ुलामी को उठा देने में विजयी बनी है—वह उठती या नहीं, इस में बहुत बड़ा सन्देह है। यदि प्रत्येक प्लीबीअन (Plebeian) * युवा को यह शिक्षा दी जाती कि,—"अपने स्वामी की प्रसन्नता प्राप्त करना ही अपने जीवन का उद्देश है। अपना स्वामी अपने

---

* रोम के प्राचीन इतिहास में दो प्रकार के मनुष्य हैं, एक पेट्रीशिअन दूसरे प्लीबीअन। पेट्रीशिअन राज्यधिकारी वर्ग था और इसने सब राजकीय अधिकार दबा लिये थे, तथा प्लीबीअन लोगों को इनकी ग़ुलामी में रहना पडता था। इस-लिए दोनों में परस्पर झगड़ा चला ही करता था, किन्तु अन्त में प्लीबीअन लोगों को राजकीय अधिकार मिल गये थे।

को एक कुटुम्बी की तरह माने, और अपन उसके सम्पूर्ण प्रेम के पात्र बन कर रहें, अपनी सेवा का सब से अच्छा बदला यही है, यही सब से बड़ा पारितोषिक है।" यदि प्रत्येक प्लीबीअन युवक के मन में यह लोभ पैदा करा दिया गया होता, और यदि उनमें सब से विशेष बुद्धिमान् और महत्त्वाकांक्षी युवकों को यह विश्वास करा दिया गया होता कि उन्हें यह उत्कृष्ट पदार्थ मिलेगा; तो इसके मिलने पर, वे अपने मालिकों की इच्छा और स्वार्थ के विरुद्ध निस्सन्देह कुछ न करते। वे अपने मालिकों के लाभ को छोड़ कर दूसरी किसी बात को अपने मन में जगह न देते। यदि उनके हृदयों को इस प्रकार अपनी ओर झुका लिया गया होता तो आज स्त्री-पुरुषों में जो स्थूल भेद दिखाई देता है वही पेट्रीशिन और प्लीबीअनों में दीखता। और किसी इक्के-दुक्के विचारशील पुरुष को छोड़ कर बाकी सब मनुष्यों को यह बात स्वाभाविक ही मालूम होती, मनुष्य-प्रकृति में स्वभावसिद्ध जान पड़ती, अपरिहार्य मालूम होती—इस में ज़रा भी सन्देह नहीं है।

१२—ऊपर दी हुई निर्दिष्ट विचार-शैली से यह बात तो सब को साफ़ तौर पर मालूम हो गई होगी कि वर्त्तमान रूढ़ि चाहे जैसी सर्वमान्य या सर्वसाधारण हो, किन्तु केवल उसकी सर्वमान्यता से ही सामाजिक और राजकीय विषयों में स्त्रियों को पुरुषों के आधीन रखने की व्यवस्था प्रकृतिसिद्ध या स्वाभा-

सिद्ध नहीं सिद्ध होती और उसके पक्ष में इस प्रकार का कोई अनुमान नहीं बांधा जा सकता। पर आगे बढ़ कर मैं यह सिद्ध करना चाहता हूँ कि, इतिहास-क्रम और दिनों दिन सुधार की ओर बढ़ने वाली मनुष्य-जाति की वृत्ति, यदि इन दोनों को सामने रख कर विचार करेंगे तो स्त्री-पुरुषों में आज जो अधिकार-वैषम्य की प्रथा प्रचलित है—इस प्रथा के अनुकूल कोई अनुमान उसमें से न निकलेगा, बल्कि इसके विरुद्ध अनुमान ही पैदा होगा। यदि आज तक के मनुष्य-जाति के उन्नति-क्रम को हम सोचें और यह विचारें कि इस समय के लोगों का विचार-प्रवाह किस ओर बह रहा है—तो साफ़ मालूम होगा कि भूतकाल की अयोग्य रूढ़ियां जैसे एक के बाद एक बन्द होती गईं वैसे ही स्त्रियों की पराधीनता भी अवश्य बन्द होनी चाहिये; क्योंकि यह प्रथा आने वाले समय के लिए असंगत और अयोग्य है।

१३—इन बातों को हल करने के लिए इन प्रश्नों का सोच लेना आवश्यक है कि इस ज़माने का विशेष लक्षण क्या है? प्राचीनकाल की परिपाटी, लोक-व्यवस्था, जीवन-प्रवृत्ति और इस ज़माने की परिपाटी, लोक-व्यवस्था, जीवन-प्रवृत्ति में मुख्य भेद कौन-कौन से है? आज जो प्राचीनकाल से मुख्य भेद है वह यह है कि, मनुष्य जिस स्थिति में पैदा होता है उस ही स्थिति में अन्त तक नहीं रह सकता; ऐसे नियम और ऐसी रूढ़ियाँ आज नहीं है कि जिनके कारण जन्म से मृत्यु

तक मनुष्य अपनी अवस्था न बदल सके। अपनी बुद्धि के अनुसार आज जो मनुष्य जिस काम को करना चाहता है उसे आज़ादी के साथ कर सकता है; आज आदमी इस बात के लिए स्वाधीन है कि उसे जैसे अनुकूल साधन प्राप्त हों वैसे ही वह उन्हें काम में लाकर अपनी हालत सुधार ले। पुराने समय में समाज की व्यवस्था कुछ और ही नियमों पर चल रही थी। जिस मनुष्य का जन्म जिस कुल और जिस जाति में होता था वह मरने तक उस ही कुल और उस ही जाति में रक्खा जाता था; क़ायदे और रूढ़ियाँ उसे ज़रा भी इधर-उधर न होने देती थीं, और विशेष करके तो उसे अपनी स्थिति सुधारने के साधन ही दुर्लभ थे। जैसे मनुष्यों में कुछ आदमी काले रंग के पैदा होते हैं और कुछ गोरे रंग के—वैसे ही उस ज़माने में बहुत से आदमी ग़ुलाम बन कर जन्म लेते थे; यानी जिस बालक का जन्म ग़ुलाम के पेट से होता था वह आजन्म ग़ुलाम ही होता था और स्वाधीन नागरिक के घर पैदा होने वाला बालक स्वाधीन समझा जाता था *। जिस बालक का जन्म उमराव के घर होता था वह जन्म-भर उमराव गिना जाता था और सामान्य

---

* प्राचीन काल में हमारे देश में "आर्य" और "अनार्य" का भेद जन्म से ही माना जाता था। इस ही प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण भी जन्मभेद की नींव पर ही स्थापित हैं। विश्वामित्र जैसे क्षत्रिय से ब्राह्मण बने ऐसे उदाहरण दो ही चार मिलते हैं—पर यह भी जन्म-भेद की दृढ़ता का प्रमाण है।

मनुष्य के घर पैदा होने वाला बालक आजीवन सामान्य श्रेणी में ही समझा जाता था। जिस बालक का जन्म पैट्रीशिअन वर्ग में होता था वह पैट्रीशिअन और जिसका प्लीबीअन के घर जन्म होता था वह प्लीबीअन ही रहता था। एक दास या गुलाम के पेट से पैदा हुआ मनुष्य अपनी बुद्धि और प्रयास से ऊँचे वर्ग में नहीं जा सकता था, उसे स्वाधीनता नहीं मिल सकती थी; अपने मालिक की मरज़ी के अलावा स्वाधीनता पाने के लिए उसके पास कोई उपाय नहीं होता था। इतिहास जिस समय को मध्ययुग कहता है उसके अन्त तक योरुप के सभी देशों में वह उमराव या श्रेष्ठ पद नहीं प्राप्त कर सकता था जिसका जन्म उन वंशों में नहीं हुआ है; और मध्ययुग के अन्त में भी राजाओं की सत्ता विशेष होने के कारण साधारण श्रेणी वाले उमराव-पद पर पहुँच सकते थे। उमराव-वर्ग में भी यह ज़बर्दस्त रिवाज थी कि बड़ों की पैदा की हुई तमाम मिलकियत का वारिस सिर्फ़ बड़ा लड़का ही हो सकता, था और बाप अपने बड़े बेटे को उसके हक़ से नहीं हटा सकता था। अर्थात् अपने पूर्वजों की पैदा की हुई सम्पत्ति को अपने मनचाहे ढँग से तक़सीम नहीं कर सकता था। इस नियम के निश्चित होने में भी एक बड़ा लम्बा अर्सा लगा था। हुनर और व्यापार-धन्धा भी वेही कर सकते थे जो उस व्यापारिक या कार्यकारी मण्डल (Guild) में पैदा होते थे, और जो मनुष्य उस में पैदा नहीं होते थे और मण्डल जिन्हें

अपने में नहीं मिलाता था वे एक निश्चित हद तक क़ानून के अनुसार व्यापार-धन्धा नहीं कर सकते थे। और जो धन्धे या व्यापार महत्त्व के समझे जाते थे उनके विषय में महाजन जो नियम निश्चित कर देता था या उसके विषय में जो रीति चला देता था उस ही के अनुसार वह काम चलाना पड़ता था। इतिहास में ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है कि अपने कारोबार में, किसी काम के तरीक़ों को लौट-फेर करने में, या किसी नई तरकीब की खोज निकालने में लोगों को कड़ी से कड़ी जेल की सज़ा भोगनी पड़ी है। पर आज उस ही योरुप-खण्ड में, जहाँ किसी नई बात का सोचना ही अपने सिर मौत बुलाना था, तमाम बातें नई और उस ज़माने के ख़िलाफ़ मालूम होती हैं। आज किसी देश की गवर्नमेण्ट या राजा इस बात का निश्चय नहीं करते कि कला-कौशल के काम को किस जाति वाले करें, किस ढँग से करें और कौनसी पद्धति का अनुसरण करें। आज प्रत्येक व्यक्ति इस बात के लिए स्वाधीन है कि वह अपने आपको जिस काम के योग्य समझे उसे प्रसन्नता से करे। इङ्गलैण्ड में पहले क़ानून था कि कारीगरी के काम करने वालों को एक नियत समय तक अनुभवी कारीगर के पास उम्मीदवारी करनी पड़ेगी, पर यह क़ानून अब रद कर दिया गया; इसका कारण यह है कि अब लोगों को समझ होगई है कि यदि किसी को अपना काम चलाने के लिए अनुभव और शिक्षा लेने की आवश्यकता हो होगी

तो वह अपनी आप काम सीखेगा, पर इसके लिए क़ानून बनाने की आवश्यकता ही क्या है। पुराने ज़माने में लोगों का खयाल था कि व्यक्ति को पसन्द पर बहुत ही कम बातें छोड़नी चाहिएँ। जो सत्ता के स्वामी होते थे वे सोचते थे कि हम लोगों से ज़ियादा अक़्लमन्द—विचक्षण हैं, इसलिए किस व्यक्ति का हित किस काम में है, उसे किस तरीक़े से करने पर उसे लाभ होना सम्भव है, इसके लिए इन सब बातों का निर्णय हमें पहले से ही कर डालना चाहिए, और यदि उसे स्वतन्त्रता-पूर्वक उसकी मनशा के मुताबिक़ करने दिया जायगा तो उससे ज़रूर भूलें होंगी। इस ज़माने में यह समझ बहुत कुछ उठ गई है। हज़ारों बरसों के अनुभव के बाद लोगों का यह पक्का विश्वास हो गया है कि जिस काम में जिस व्यक्ति का प्रत्यक्ष लाभ हो, उस काम को उस ही की मरज़ी पर छोड़ देना चाहिए ; ऐसा करने पर ही वह काम अच्छे से अच्छे ढँग पर हो सकता है ; और यदि दूसरों के अधिकारों की रक्षा करने के लिए सरकार बीच में हाथ डालेगी तो उस काम में अवश्य हानि ही होगी। इस निश्चय पर पहुँचने में मनुष्य-जाति को बड़ा समय लगा है, और इस पद्धति के विरुद्ध जितने प्रकार की पद्धतियाँ कल्पना में लाई जा सकती हैं, उन सब का अनुभव प्राप्त करके, जब सब के परिणाम में हानि हुई, तभी लोगों ने इस निश्चय के अनुसार काम करना निश्चित किया। इस समय जो देश उन्नत और

ज्ञानसम्पन्न कहे जाते हैं उन सब में, हुनर और उद्योग-धन्धे के विषय में ऊपर लिखा सिद्धान्त ही काम में लाया जाता है, और इसलिए इस समय जो मनुष्य जिस धन्धे को करना चाहता है उसमें किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं आता। कोई मनुष्य यह सिद्ध करना नहीं चाहता कि एक काम के जितने न्यारे-न्यारे तरीक़े हैं वे सभी अच्छे हैं, या सभी आदमी सब कामों को खूबी के साथ कर सकते हैं; बल्कि लोगों की यह धारणा बन चुकी है कि हर एक धन्धे को पसन्द आदमी की मन्शा पर छोड़ देने से वह उसी तरीक़े को पसन्द करेगा जो सब से अच्छा होगा, और जो आदमी पूरे तौर पर जिस काम के लायक़ होता है—उस ही के हाथ में वह काम जाता है। उदाहरण के तौर पर जो आदमी मज़बूत शरीर वाला होता है उसही के हाथ लुहार का धन्धा जाता है, इसलिए इस तरह के क़ानून की कोई ज़रूरत नहीं है कि कमज़ोर आदमी लुहारी का काम नहीं कर सकते। काम पसन्द करने की आज़ादी और अनियन्त्रित स्पर्धा इन दो कारणों से लुहारी के काम को वे ही पसन्द करेंगे जो मोटे-ताज़े और ताक़त वाले होंगे; और जिन आदमियों में ज़ियादा ताक़त न होगी वे लुहारी का काम न करके जिस काम के लायक़ होंगे उसे तलाश कर लेंगे—क्योंकि ऐसा करने पर ही उन्हें ज़ियादा से ज़ियादा फ़ायदा हो सकेगा। इस ही सिद्धान्त के अनुसार लोगों की धारणा हो गई है कि, किसी ऐसे-वैसे कारण पर ही

नियमानुसार किसी को किसी काम के अयोग्य बना देना एक सत्ताधीश का योग्य कार्य नहीं है—अर्थात् गवर्नमेण्ट इस बात का निर्णय करे यह उचित नहीं। यदि कहीं कभी इस बात का सरल कारण भी मिल जाय कि अमुक वर्ग के मनुष्य अमुक कार्य के योग्य नहीं हैं, फिर भी यह मानने के लिए कोई कारण नहीं मिल सकता कि यह अनुमान सब जगह समान रीति से ही लागू हो सकेगा। यदि थोड़े समय के लिए हम इस बात को स्वीकार भी कर लेवें कि बहुत से उदाहरणों में से कोई इस प्रकार का अनुमान सच होगा, फिर भी ऐसे अपवाद रूप थोड़े बहुत उदाहरण निकल ही आवेंगे जिनमें यह अनुमान पूरा नहीं उतरता होगा, और इस बात के लिए ही उनके विषय में नियम बनाने की प्रथा का काम में लाना—यानी अपनी-अपनी शक्ति का सब से अधिक लाभ उठाने की व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर अङ्कुश रखना तथा उसके मार्ग में बाधाएँ खड़ी करना, उन-उन व्यक्तियों के प्रति अन्याय का बर्ताव करना है, उनका नुकसान करना है, बल्कि इससे मनुष्य-समाज को भी हानि है। दूसरी ओर जो मनुष्य सच-मुच उस काम के अयोग्य होगा, वह अपने आप उस काम में हाथ न डालेगा; काम की ओर प्रेरणा करने वाले जो हेतु मनुष्य के भीतर होते हैं, वे हेतु ही उस काम से उसे हटावेंगे, फिर भी यदि कोई मनुष्य बिना विचारे अयोग्य काम को शुरू कर ही देगा तो परिणाम में उसे बिल्कुल लाभ

न होगा, और इस लिए अपने आप उससे हाथ खींच लेगा।

१४—यदि अर्थशास्त्र और व्यवहारशास्त्र का यह नियम सत्य न हो, प्रत्येक मनुष्य किस काम के योग्य है और किसके अयोग्य है इसका निर्णय उन व्यक्तियों की अपेक्षा गवर्नमेण्ट या उसके अधिकारी विशेष दक्षता से कर सकें, तो इस सिद्धान्त को जैसे बने वैसे लोग जल्दी से छोड़ देवें और उसी पुराने व्यवहार को काम में लावें। यदि यह बात सत्य हो तो सरकार प्रत्येक विषय के क़ानून बना डाले, और अमुक वर्ग के मनुष्य इस काम के योग्य है और अमुक वर्ग वाले अयोग्य—यही पुराना नियम फिर प्रचलित हो जाना अच्छा है। पर यदि इस सिद्धान्त के सत्य होने में हमारी दिल-जमई होगई हो, तो हमें अपने सभी विषयों में इसका प्रयोग करना चाहिए। और अमुक मनुष्य उच्चकुल में न उत्पन्न होकर नीचकुल में उत्पन्न हुआ, अथवा गोरे मा-बाप के पेट से न पैदा होकर काले रङ्ग वाले मा-बापों के यहाँ जन्मा, इसलिए वह जन्मभर कुछ नियमित नीच कार्य करने ही के लिए पैदा हुआ है, अथवा वह आमरण अमुक प्रकार के नीच सामाजिक अधिकारों का ही पात्र है,—यह बात जैसी हमें अन्याय-भरी मालूम होती है, उसही प्रकार किसी मनुष्य प्राणी को लड़के का जन्म न मिलकर लड़की का जन्म मिला, केवल इतने ही कारण से उसके लिए यह निर्णय कर देना

कि वह अमुक प्रकार की सामाजिक स्थिति के लिए ही बनी है, या कुछ इज्ज़त-आबरू के काम करने के दरवाज़े उसके लिए बन्द कर देना—यह काम भी उतने ही अन्याय और अत्याचार से भरा समझना चाहिए। पुरुषों की ओर से जो इस प्रकार का दावा किया जाता है कि अमुक-अमुक अधिकार में स्त्रियों की अपेक्षा पुरुष ही विशेष योग्य हैं, यदि हम थोड़ी देर के लिए इसे मान लेवें, यानी यह स्वीकार कर लेवें कि पुरुष स्त्रियों से विशेष योग्यता वाले होते हैं। फिर भी पार्लिमेण्ट के सभासद बनने के लिए जो नियम निश्चित हैं कि उनको इतनी योग्यता होनी चाहिए, उसे अमुक-अमुक नियम पूरे करने चाहिएँ,—उन निश्चित नियमों को क़ानून का स्वरूप देने के विरुद्ध जो दलीलें पेश की जाती हैं—वे ही दलीलें इस विषय पर भी समान लागू हैं। मानलो कि, कोई मनुष्य पार्लिमेण्ट के सभासद होने के सर्वथा योग्य है, पर सभा ने योग्यता के विषय में जो-जो नियम निश्चित कर दिये हैं, उनमें से एक दो को पूरा न कर सकने के कारण वह पार्लिमेण्ट का सभासद नहीं हो सकता। यदि प्रत्येक बारह में से इस प्रकार का एक उदाहरण बन जाता हो, तो उससे सम्पूर्ण देश का नुक़सान है, और ऐसे हज़ारों अयोग्य यदि न चुने जायँ तो विशेष लाभ नहीं। क्योंकि यदि चुनने वाले मण्डल का संगठन ऐसा होगया हो कि वे अपनी रुचि के अनुसार अयोग्य मनुष्यों को ही चुनें तो वास्तव में अयोग्य

उम्मीदवारों को बन आवेगी—और ऐसों की कमी भी नहीं होती। साधारण रीति से स्थिति इस प्रकार की होती है कि यदि चुनाव का क्षेत्र किन्हीं विशेष रीतियों से संकुचित नहीं किया जाता, तब भी कठिन और महत्त्व के कामों के योग्य जितने मनुष्यों की आवश्यकता होती है उससे कम ही मिलते हैं। सुयोग्य मनुष्यों की तो सदा कमी होती ही है, इसलिए चुनाव के क्षेत्र को किन्हीं रीतियों से संकुचित या मर्यादित किया जाय, अर्थात् जैसी योग्यता वाले मनुष्यों की आवश्यकता हो, वैसी कड़ी शर्त्तें रक्खी जायँ, और इस प्रकार चुनाव के योग्य मनुष्यों की संख्या छोटी कर डाली जाय—तो इस रीति का परिणाम यह होगा कि बहुत बार योग्य से योग्य मनुष्य चुनाव में न आसकेंगे, और ऐसा होने से उन मनुष्यों के द्वारा जो मनुष्य-समाज का कल्याण होना था वह नहीं होगा; साथ ही अयोग्य मनुष्य जो समाज के गले पड़ने हों‌गे वे पड़े होंगे।

१५—आज-कल के सुधरे हुए देशों के क़ायदे-क़ानून और समाज-व्यवस्था के नियम देखने से मालूम होता है कि, किसी मनुष्य को किसी सामाजिक स्थिति में जन्म धारण करने के कारण किन्हीं विशेष अधिकारों से वञ्चित नहीं रहना पड़ता। इस नियम में एक स्त्रियाँ और दूसरे राजा, बस ये दो ही अपवाद है। राजपद के सम्बन्ध में आज भी वही तरीक़ा चला जाता है कि जो मनुष्य राजकुटुम्ब में पैदा

हुआ हो वही राजा हो सकता है, राजकुटुम्ब से भिन्न कोई मनुष्य सिंहासन का उत्तराधिकारी नहीं होता ; और राजघराने का भी वही मनुष्य राजा होता है जो वारिस समझा जाता है। केवल एक राजपद को छोड़ कर बाकी सम्पूर्ण अधिकार और हर एक सामाजिक लाभ उठाने की स्वाधीनता प्रत्येक मनुष्य को है। निस्सन्देह बहुत से अधिकार और लाभ ऐसे हैं जो बिना द्रव्य के प्राप्त नहीं हो सकते, किन्तु द्रव्य-प्राप्ति के सम्पूर्ण द्वार प्रत्येक व्यक्ति के लिए खुले हैं ; तथा ऐसे बहुत से उदाहरण हमारे सामने मौजूद हैं कि साधारण कुल में जन्म लेकर लोग धनी बने हैं। यह बात तो है ही कि भाग्य सब के अनुकूल नहीं होता, और इसलिए बहुत से मनुष्यों को उच्च श्रेणी में जाते हुए अनिवार्य कठिनाइयाँ आती हैं। किन्तु यह तो निस्सन्देह है कि नियम की कोई ऐसी बाधा नहीं है जिससे किसी-किसी वर्ग वाले किसी अधिकार को न पा सकें, या किन्हीं विशेष कामों के लिए कोई वर्ग अयोग्य समझा जाय ; अर्थात् नियम या लोकमत से स्वाभाविक कठिनाइयों में कृत्रिम कठिनाइयाँ नहीं मिलाई जातीं।

ऊपर कहा गया है कि राजपद इस नियम का एक अपवाद है, और इसे प्रत्येक मनुष्य बात-चीत करते समय अपवाद ही कहता है। इस बात को प्रत्येक मनुष्य जानता है कि राजपद का जो कुछ खटराग पूरा करने के लिए इस जमाने में रीति-रिवाज और व्यवहार प्रचलित हैं

और जैसी नाम मात्र की सर्वमान्यता उसे दी गई है ; यह कुछ विशेष बातों के लिए समझ-बूझ कर पसन्द करना पड़ा है। इन विशेष बातों के महत्त्व के विषय में अर्थात् व्यवस्था की आवश्यकता के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के तथा भिन्न-भिन्न प्रजाओं के मन्तव्यों में भेद है, यह सत्य है, किन्तु ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है जो इन विशेष कारणों के अस्तित्त्व को स्वीकार न करता हो। यद्यपि कुछ विशेष महत्त्व के कारणों से राजपद के समान सर्वोच्च सामाजिक अधिकार प्रजा मात्र की स्पर्धा के लिए खुला नहीं रक्खा गया, केवल राजपरिवार में पैदा हुए मनुष्यों के लिए ही वह रक्षित रक्खा गया है, और इस रक्षितपन के कारण यह सामान्य नियम का अपवाद जैसा मालूम होता है, फिर भी इस समय के सम्पूर्ण स्वाधीन राज्यों ने अनेक युक्ति-प्रयुक्तियों के द्वारा इस अधिकार को केवल नाममात्र का ही रख दिया है, और वास्तविक रीति से देखते हुए यह सब उसी मूल नियम के पोषण के लिए रक्खा है ; क्योंकि राजा के पीछे बड़ी-बड़ी शर्तें लगी हैं, अपने राज्य पर हुकूमत करते हुए राजा पर इतने बन्धन पड़ जाते हैं कि उसके हाथ में राज्याधिकार तो केवल नाममात्र के ही रह जाते हैं, केवल नाम मात्र का राज्य उसके हाथ में रहता है ; राज्य की प्रधान सत्ता मन्त्री (सेक्रेटरी) के हाथ में होती है, और इस मन्त्री के पद तक पहुँचने के लिए सर्वसाधारण को पूरी स्वाधीनता है। इस बात से यह सिद्ध होता है कि इस

ज़माने में केवल स्थिति में जन्म होने के कारण यदि किसी को अधिकारों से वञ्चित किया जाता है तो वे केवल स्त्रियाँ ही हैं। इस उदाहरण के समान अचम्भे में डाल देने वाला उदाहरण और कोई नहीं दीख सकता। संसार भर की मनुष्य-जाति के आधे भाग को केवल जन्म के कारण अधिकारों के अयोग्य बताना कितने दुःख की बात है? स्त्रियों के विषय में पुरुषों का निश्चय किया हुआ प्रतिबन्ध इतना अनुल्लङ्घनीय है कि वे चाहे जितना परिश्रम करें, सम्पत्ति प्राप्त करें, चाहे जितनी विद्या सम्पादन करें, और चाहे जितनी ज्ञान और बुद्धि सम्पन्न हों, किन्तु उन्हें स्त्री-देह मिलने के कारण—वे किसी प्रकार अपनी नालायक़ी फेंक कर लायक़ बन ही नहीं सकतीं। जो मनुष्य राज्य के स्थापन किये हुए धर्म को नहीं मानते वे भी कुछ अधिकार और ओहदों के लिए अयोग्य समझे जाते हैं, किन्तु वे मनुष्य भी पीछे से अपने धर्म को बदल कर राज्य-धर्म को स्वीकार करलें तो उनके लिए फिर सब मार्ग खुल जाते हैं, अर्थात् पहले का धर्म-भेद भी जन्म-भर उनका मार्ग नहीं रोकता। तथा इँग्लैण्ड और योरुप के अन्य देशों में तो केवल धर्म-भेद के कारण अयोग्य समझने की प्रथा प्रायः उठ गई है, इसलिए इस समय केवल जन्म के कारण बड़े-बड़े अधिकारों के अयोग्य किसी को खोजेंगे तो केवल स्त्रियाँ ही मिलेंगी।

१६—इस बात से सब के ध्यान में आगया होगा कि वर्त-

मान समय की समाज-व्यवस्था में स्त्रियों की सामाजिक परा-धीनता एक कलङ्क के समान रह गई है। जो नियम समाज में सामान्य और सर्वमान्य है उसके उल्लङ्घन का केवल एक यही उदाहरण है। पुराने आचार-विचार नष्ट होजाने पर भी यह प्रथा अवशिष्ट है; और इस अवशिष्ट अंश में ही संसार का विशेष लाभ छिपा है। हम यह अभिमान करते हैं कि संसार में सुधार का प्रवाह दिन पर दिन आगे की ओर बढ़ रहा है, पर स्त्रियों की पराधीनता से इसमें बड़ा भेद है। सुधार के तेज़ प्रवाह में पहले की तमाम ख़राब बातें बह गईं और उनके स्थान पर प्रत्येक बात न्याय और हित के मूल पर स्थापित की गई है। इतना सब कुछ होने पर भी स्त्रियों की पराधीनतावाली हानिकारक चाल आज तक जैसी की तैसी अटल है। इन दोनों बातों को ध्यान में रख कर जब हम मनुष्य-स्वभाव की प्रवृत्ति का सूक्ष्म निरीक्षण करते हैं, तब आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता। स्त्रियों की पराधीनता वाली रूढ़ि अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही है, तथा इसका प्रसार मनुष्य मात्र में है, इन दोनों कारणों से हम इस रूढ़ि के विरुद्ध मत देने में हिचक जाते हैं, पर ऊपर बताई हुई विसंगतता को जब हम सोचते हैं, तब इस रूढ़ि के विरुद्ध अनुमान करने के बहुत से कारण मिल जाते हैं, यदि यह भी न सही तो, जब इस प्रकार का प्रश्न उपस्थित होता है कि राज्यसत्तात्मक राज्यपद्धति और प्रजासत्तात्मक राज्य-

पद्धति इन दोनों में अच्छी कौन सी है, तब यह कहना ही पड़ता है कि दोनों के पक्ष में सबल प्रमाण हैं, इस ही प्रकार इस विषय में कहना चाहिए कि रूढ़ि के पक्ष में अनुमान करने के जितने कारण हैं उसके विपक्ष में भी उतने ही हैं; अर्थात् दोनो ओर की दलीलें बराबर ज़ोरदार हैं।

१७—मैं लोगों से सिर्फ़ इतना ही चाहता हूँ कि इस विषय का विवेचन करने में, मनुष्य मात्र में प्रचलित रूढ़ि और लोकमत जो इसके पक्ष में हैं, केवल इन दोनों बातों पर ही ध्यान न देते हुए, इसका निर्णय गुण-दोषों की विवेचना-पूर्वक वादविवाद करके न्याय और नीति के अनुसार करना चाहिए; जिस प्रकार मनुष्य-जाति की अन्य सामाजिक व्यवस्थाओं के भले-बुरे का निर्णय करते समय इन सवालों को वाद विवाद पूर्वक निश्चित करते हैं कि वह व्यवस्था मनुष्य-जाति का कल्याण कर सकती है या नहीं, उस व्यवस्था के द्वारा उत्पन्न होने वाले परिणाम शुभ हैं या अशुभ, जिस प्रकार हम उन सामाजिक व्यवस्थाओं का निर्णय मनुष्य-जाति के कल्याण पर ध्यान रख कर करते हैं उस ही प्रकार इस विषय का निर्णय करते समय भी लिङ्ग-भेद को एक ओर हटाकर मनुष्य-जाति के कल्याण को लक्ष्य में रखते हुए इस पर विचार करें; तथा इस पर जो वाद-विवाद किया जाय वह केवल शाब्दिक न होना चाहिए बल्कि गहरा और सबल हो। वाद-विवाद करते समय केवल ऊपर के अनुमान पर सन्तोष

न करके प्रत्येक दलील के मूल तक पहुँचना चाहिए। उदाहरण के तौर पर यदि कोई शब्दों में कहे कि,—"मनुष्य-जाति का अनुभव ही इसके अस्तित्त्व की पूरी साक्षी है" तो इससे कुछ नहीं हो सकता। जिस दशा में लोगों को केवल एक ही पद्धति का अनुभव हुआ है, उस दशा में यह कह देना कि दो पद्धतियों में से अमुक अच्छी है, और अनुभव के अन्त में लोगों ने यह निर्णय किया है—यह बात ज़रा भी उचित नहीं मालूम होती। कदाचित् कोई यह प्रश्न करेगा कि स्त्री पुरुषों की समानता प्रतिपादन करने वाला मत केवल कल्पना पर बनाया गया है, तो उसके विरुद्ध मत की दीवार भी केवल कल्पना पर ही खड़ी की गई है, इसे ध्यान में रखना चाहिए। प्रत्यक्ष अनुभव से केवल इतनी ही बात सिद्ध होती है कि इस पद्धति की छाया में रह कर मनुष्य-जाति अस्तित्त्व में बनी रह सकती है तथा हमारी आँखों से देखते हुए वर्तमान सुधार और उन्नत दशा को पहुँच सकी है, पर यह जितना अनुभव मिल चुका है उस पर से कोई यह नहीं कह सकता कि स्त्रियाँ पराधीन रक्खी गईं, इसलिए ही इतनी उन्नति सरलता-पूर्वक प्राप्त की जा सकी है, अथवा यदि स्त्रियाँ स्वाधीन कर दी जातीं तो मनुष्य-जाति की उन्नति इतनी सरलता-पूर्वक नहीं होती। सच बात तो यह है कि हमारा अनुभव ऐसा बना है कि जैसे-जैसे सुधार की धारा, आगे-आगे बढ़ती गई वैसे ही वैसे स्त्रियों की सामाजिक दशा

है कि जो भेद किसी प्रकार बनावटी न साबित हो वह स्वाभाविक है। शिक्षा और बाह्य संयोग से प्रत्येक में जो जो बातें फिर आ मिली हों, उन्हें छोड़ देना चाहिए, और उनके छोड़ देने पर बाक़ी जो गुण बचें वे स्वभावसिद्ध या प्रकृतिदत्त हैं। इस विषय का सम्पूर्ण और यथार्थ ज्ञान प्राप्त किये बिना कि मनुष्य-चरित्र किन-किन नियमों के व्यापार का परिणामस्वरूप है, स्त्री और पुरुष के बीच में प्रकृतिसिद्ध भेद दरअसल में कोई है या नहीं, यही जानने का अधिकार किसी को नहीं है, तब यह प्रतिपादन करने की बात तो दूर है कि प्रकृतिसिद्ध भेद फलाने-फलाने है। इस विषय के अत्यन्त महत्त्व का होने पर भी किसी ने इसके अभ्यास की ओर ध्यान नहीं दिया इसीलिए इस विषय का यथार्थ ज्ञान भी किसी को नहीं है; इसलिए इस विषय पर निर्णय की राय देने का हक़ भी किसी का नहीं है। इस समय तो केवल कल्पना या अनुमान बाँधा जा सकता है; और चरित्र-संगठन के विषय में मानसशास्त्र का जितना कम या ज़ियादा ज्ञान है उतने ही प्रमाण में यह तर्क खोटा या खरा होगा।

२१—स्त्री और पुरुष का भेद किन-किन कारणों से उत्पन्न हो सका है, इस विषय का यथार्थ ज्ञान तो एक ओर रहा, किन्तु वास्तव में ये भेद हैं कौन-कौन से, इस सम्बन्ध में हमारा जो ज्ञान है वह भी बहुत ही कम और कच्चा है। इस विषय का निर्णय करते समय मानसशास्त्र-वेत्ता को इस बात

से बहुत सहायता मिल सकती है कि वैद्यक विद्या के जानकारों और शरीरशास्त्र-वेत्ताओं ने स्त्री और पुरुषों के शरीर के, कौन-कौन से भेद बताये हैं और उन्हें वे कितने अशों में निश्चित कर सके हैं। पर हम लोगों में ऐसा कोई भूला-भटका ही मनुष्य होगा जो शरीरशास्त्रज्ञ होकर मानसशास्त्र, को भी जानता हो। इसलिए स्त्रियों का मनोधर्म अर्थात् मानसिक विशेष गुण सामान्य पुरुषों के उस ज्ञान से विशेष हो ही नहीं सकता। इस विषय का पूर्ण प्रमाण न मिलने का एक और भी कारण है। इस विषय का वास्तविक ज्ञान केवल स्त्रियों को ही हो सकता है, किन्तु स्त्रियों ने आगे बढ़ कर अपने हृदय की बात संसार से कभी नहीं कही; और उनके मुँह से जो थोड़े-बहुत शब्द निकले भी हैं, वे सच्चे हार्दिक शब्द न होकर सिखाये हुए हैं, इसलिए विश्वास के योग्य नहीं। मूर्ख स्त्रियों का मतलब समझना कुछ सरल है, क्योंकि मूर्खता विशेष करके सब कहीं एक सी ही होती है; और मूर्ख मनुष्यों के जैसे विचार विशेष करके उनमें प्रविष्ट होते है, उनके आस-पास वाले मनुष्यों के विचार और मनोधर्म पर जो प्रभाव पड़ता है—वह उनके विचारों से कुछ-कुछ अनुमान में लाया जा सकता है। किन्तु जिन का मत और जिनके विचार स्वतःसिद्ध और अपने आप पैदा होते हैं, उनके भाव जानने का काम उतना सरल नहीं होता। अन्य स्त्रियों की बात तो जाने दीजिए किन्तु ऐसे मनुष्य ही बहुत कम

मिलेंगे जो अपने ही घर की स्त्रियों के स्वभाव और मनोधर्म को साधारण रीति से भी जानते हों। मैं इस बात को स्त्रियों की बुद्धि या कर्त्तव्यशक्ति को उद्देश करके नहीं कह रहा हूँ; बल्कि स्त्रियों को भी अपना ज्ञान नहीं होता, क्योंकि जब तक किसी को अपनी शक्तियों के पजोखने का अवसर न मिले तबतक वह खुद भी नहीं समझ सकता कि मैं क्या कर सकता हूँ और क्या नहीं। मेरा मतलब सिर्फ़ यह है कि स्त्रियाँ ख़याल करती होंगी, और उनके कुटुम्बी पुरुषों को भी इसका यथार्थ ज्ञान नहीं होता कि उनके मन में कैसे विचार उठते होंगे। अधिकांश मनुष्यों को स्त्रियों से शरीर-सम्बन्ध होने के कारण यह मालूम होता है कि हम स्त्रियों के स्वभाव के विषय में सब कुछ जानते हैं। उन मनुष्यों में यदि बारीक जाँच करने की शक्ति हो, और भिन्न-भिन्न स्वभाव वाली अनेक स्त्रियों से उनका अति निकट सम्बन्ध हो, तो स्त्रियों के स्वभाव का थोड़ा-बहुत भाग उनकी नजर में आसकता है, किन्तु स्वभाव का सम्पूर्ण भाग तो उनकी दृष्टि में आही नहीं सकता, क्योंकि ऐसे पुरुषों के सामने स्त्रियाँ अपने स्वभाव तथा चरित्र का सच्चा रूप प्रकट ही नहीं करतीं, बल्कि जहाँ तक बन पड़ता है उसे छिपाने का प्रयत्न करती हैं। पुरुष को यदि स्त्री के स्वभाव देखने की पूरी अनुकूलता मिलती है तो केवल अपनी स्त्री के; क्योंकि एक तो इस बात की जाँच का उसे पूरा अवसर मिलता है, दूसरे परस्पर दोनों सहानुभूति रखने के

कारण हृदय खोलकर बातें करने में विशेष संकुचित नहीं होते ; यदि वास्तविक रीति से देखेंगे तो पुरुष को स्त्रियों के बारे में जो कुछ ज्ञान मिलता है वह इस ही प्रकार से। पुरुष को स्त्रियों के स्वभाव का जो कुछ अनुभव मिलता है, उसे केवल अपनी स्त्री से ही प्राप्त होता है, अर्थात् अन्य स्त्रियों के स्वभाव का अभ्यास वह नहीं कर सकता। इसलिए स्त्री-स्वभाव के विषय में हम जो कुछ अनुमान करते हैं वह केवल एक स्त्री से प्राप्त हुए छोटे से कारण पर। फिर उस बात को भी निःशङ्क होकर नहीं कह सकते कि उसे स्त्री-स्वभाव का जो कुछ अनुभव हुआ है वह यथार्थ भी है या नहीं। उस अनुभव के कुछ अंशों के यथार्थ होने का अनुमान किया जा सकता है जो उस स्त्री से प्राप्त हों जिसके स्वभाव में सामान्यता न होकर कुछ जानने योग्य विशेषता हो ; और स्वभाव को परखने वाला पुरुष जज के समान सब प्रकार की योग्यता रखता हो, और वह योग्यता सहृदयता, प्रेम और मिलनसारी के स्वभाव में परिवर्तित हो तथा अपनी स्त्री के प्रत्येक मनोधर्म को बिना प्रयास वह जान पाता हो, अथवा स्त्री को उसके सामने हृदय खोल कर निःसंकोच बातें करने में कोई रुकावट न हो—इस प्रकार अनुभव प्राप्त करके जो पुरुष स्त्री-स्वभाव के बारे में कुछ सम्मति देगा तो वह कुछ ज़ोरदार हो सकती है। मेरी समझ के अनुसार तो इस प्रकार के सब संयोगों का मिलना महा कठिन काम है। बहुत से दम्पति

ऐसे देखने में आते हैं जो सांसारिक व्यवहार में एक मन से और परस्पर एक दूसरे का लाभ सोचते हुए अपना संसार चलाते हैं; किन्तु इनमें परस्पर एक दूसरे के हृदय को परखने का गुण एक साधारण दृष्टि से देखने वाले मनुष्य की अपेक्षा विशेष नहीं होता। जिन स्त्री-पुरुषों में परस्पर सच्चा प्रेम भी होता है, उस सम्बन्ध में भी पुरुष के मन में अधिकार भोगने का लोभ, और स्त्री के मन में अपनी पराधीनता का ख़याल, इन दोनों विरोधी बातों के कारण परस्पर पूरा विश्वास नहीं होता, और इसलिए स्त्री अपने हृदय की गहरी से गहरी बात कभी प्रकट नहीं कर सकती। मेरे कहने का मतलब यह नहीं है कि स्त्री अपने हृदय के जिन विचारों को पति से छिपा रखती है उन्हें वह जान-बूझ कर ही छिपाती है, किन्तु जिन विचारों को वह अपने सर्वथा हित चाहने वाले सुहृद से कह सकती है, उन्हें नहीं कहती। स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध से मिलता-जुलता पिता-पुत्र का सम्बन्ध है, उस सम्बन्ध में यही प्रकार दीखता है। पिता-पुत्र का एक दूसरे पर अपार प्रेम होता है, पर प्रेम होने पर भी बहुत बार यह देखा जाता है कि पुत्रके विषय में पिता को जितनी जानकारी होती है, उससे कहीं ज़ियादा हाल उसके मित्रों को मालूम होता है। ऐसा होने का कारण यह है कि जिन दो मनुष्यों में स्वामी-सेवक या ज्येष्ठ-कनिष्ट का सम्बन्ध होता है उनमें हृदय खोल कर बोलने-चालने का कभी अवसर ही

नहीं आता; क्योंकि उनका सम्बन्ध इसके ख़िलाफ़ है। अपने अधिकारी के मन में अपने विषय में जो कुछ उच्च विचार होते हैं, या जो कुछ उसका स्नेह होता है, उसमें किसी प्रकार का अन्तर न होने देने के लिए प्रत्येक मनुष्य ऐसा चौकन्ना रहता है कि वह चाहे जैसा प्रामाणिक और सच्चा हो फिर भी अधिकारी के सामने अपने उन्हीं विचारों को प्रकट करता है जो उसे अच्छे लगा करते हैं; इसलिए यह बात दावे से कही जा सकती है कि जिनमें कुछ भी ऊँच-नीच का सम्बन्ध होता है वे परस्पर हृदय का हाल नहीं जान सकते; और जो समान अवस्था वाले या दिली दोस्त होते हैं वे ही एक दूसरे के मन की बात समझ सकते हैं—और वे ही एक दूसरे को वास्तविक रूप से पहचान सकते हैं। फिर स्त्रियों की बात तो इससे कहीं निराली है। स्त्रियाँ दूसरों के अधीन होती हैं, इतना ही नहीं, बल्कि—"जिससे पति की आत्मा प्रसन्न हो, पति को सब प्रकार से सुख हो, ऐसे बर्ताव के लिए ही हमारा जन्म हुआ है; और हमें ऐसा एक भी काम नहीं करना चाहिए जो पति की मन्शा के ख़िलाफ़ हो" इस तरह की समझ उनके पैदा होते ही बना डाली जाती है, और इसी तरह की शिक्षा उन्हें जन्म-भर चारों ओर से दी जाती है। इन सब बाधक कारणों के होते हुए, जिसके स्वभाव, विचार और मनोधर्म का पूरा अनुभव प्राप्त करने के लिए विशेष अनुकूलता मिलती है—उस अपनी स्त्री के विषय में

भी ऊपर कही हुई अनिवार्य बाधाएँ आती ही हैं। इसके अलावा जब हम इस बात पर विचार करते हैं कि एक स्त्री के स्वभाव को जान जाने पर क्या इतने ही से समग्र स्त्रीवर्ग के स्वभाव की जानकारी पूरी हो सकती है? तो यह कभी सम्भव नहीं; उस ही प्रकार कदाचित् कोई मनुष्य किसी एक सामाजिक स्थिति वाली या एक-देश वाली बहुत सी स्त्रियों के स्वभाव का ज्ञान प्राप्त करे, तो इतने ही कारण से क्या यह कहा जा सकेगा कि उसने प्रत्येक सामाजिक स्थिति वाली या प्रत्येक देश की स्त्रियों के स्वभाव का ज्ञान प्राप्त कर लिया? पर यह भी होने का नहीं; यदि मान भी लिया जाय कि ऐसा ज्ञान एक मनुष्य प्राप्त कर सकता है, तो यह बात तो निर्विवाद स्वीकार की जायगी कि वह ज्ञान इतिहास के एक ही युग का है। इन सब बातो को सामने रख कर हम दृढ़ता के साथ कह सकते हैं कि भविष्य की बात को एक ओर छोड कर केवल वर्त्तमान स्त्रियो के स्वभाव, विचार और सम्बन्ध के विषय में जो कुछ ज्ञान हम प्राप्त कर सकते हैं, वह निरा अधूरा और अनुमानो से भरा हुआ होगा, और जब तक स्त्रियाँ ही अपने हृदय की बात कहने में समर्थ न हो, उन्हें ऐसे सबल साधन न मिलें कि जिनके आधार पर वे अपनी बातें प्रकट करें—तब तक इस स्थिति पर यों ही काला परदा पडा रहेगा।

२२—ऐसा समय अभी तक नहीं आया, और ऐसा समय

जब कभी आवेगा, तब वह धीरे ही धीरे आवेगा। स्त्रियों को शिक्षा मिलते हुए थोड़ा ही समय बीता है, उन्हें जो कुछ कहना हो उसे वे निडर होकर कह सकती हैं,—इसे भी समाज ने अभी-अभी ही स्वीकार किया है। स्त्रियों की साहित्य-विषयक प्रवृत्ति की सफलता का आधार पुरुषों की प्रसन्नता पर अवलम्बित होने के कारण, पुरुषों के हृदयों में चुभने वाले विचार प्रकट करने की हिम्मत बहुत कम स्त्रियाँ कर सकी हैं। स्त्रियों की बात तो एक ओर रही, पुरुष-लेखक भी प्रचलित रीति-रिवाज, आचार-विचार, धर्म सम्प्रदाय और सर्वसाधारण में पूर्ण रूप से प्रचलित बातों के विरुद्ध क़लम उठाते हुए हिचकते हैं, और जिन ग्रन्थकारों ने निर्भीक होकर लिखा है उनके विरुद्ध कटाक्ष अब तक बन्द नहीं हुए, फिर जिन स्त्रियों के ऐसे विचार बना डाले गये हैं कि प्रचलित लोक-रीति और प्रचलित बातों के ज़रा खि़लाफ़ होना भी पाप है, उन स्त्रियों के पढ़-लिख कर लिखे हुए कुछ ग्रन्थों और लेखों से यह आशा रखना ही व्यर्थ है कि उनमें उनके गहरे हार्दिक विचारों का चित्र होगा। इन बातों से मालूम होगा कि स्त्री-ग्रन्थकार के मार्ग में कितनी बाधाएँ और विघ्न हैं। मेम डी स्टेइल (Mme. de st.ıl) नामक एक विदुषी स्त्री फ्रान्स देश में हो गई है। इस प्रतिष्ठित स्त्री ने जो ग्रन्थ लिखे हैं, उनके कारण देश के साहित्य में उसका नाम बहुत उच्च है। इसके लिखे हुए प्रसिद्ध ग्रन्थ

डेलफीन (Delphine) के मुख-पृष्ठ पर जो सांकेतिक वाक्य दिया गया है वह, Un homme pent biaver l' opinion ; uno femnae doit s'y soumettre अर्थात् "लोक-मत को तुच्छ कर चलने का साहस पुरुष-वर्ग ही कर सकता है; किन्तु स्त्री-वर्ग को तो उसके सामने सिर झुका कर ही चलना पड़ता है।" इस समय स्त्रियों के हाथ का जो कुछ लिखा हुआ देखने में आता है, उस से साफ़ मालूम होता है कि उसमें उन्होंने केवल पुरुषों की खुशामद की है। और स्त्रियों में कुमारी-वर्ग के द्वारा * जितने लेख लिखे जाते हैं, उनमें अधिक का उद्देश अच्छा पति प्राप्त करना ही होता है। बहुत बार तो कुमारी और विवाहिता दोनों ही प्रकार की स्त्रियाँ अपने ग्रन्थों में पुरुषों की इतनी खुशामद करती हैं कि उन ग्रन्थों के द्वारा स्थापित की हुई स्त्रियों की पराधीनता से अत्यन्त नीच प्रकृति वाले पुरुषों का ही मनोरञ्जन हो सकता है। किन्तु यह प्रणाली अब पहले की अपेक्षा कम दिखाई देती है। दिन पर दिन ग्रन्थ और लेख लिखनेवाली स्त्रियाँ अधिक स्पष्ट-वक्ता बनती जाती हैं; और अपने वास्तविक विचार प्रकट करने में दिन पर दिन अधिक उत्सुक

* भारत के सिवाय और कहीं बाल्य विवाह नहीं है। पूर्ण युवा न होने तक स्त्री-पुरुषों का विवाह नहीं होता। इसीलिए योरप की स्त्रियां कुमारी दशा में ही लेखिका और ग्रन्थकार बन जाती हैं। तथा इस स्थल की बहुत सी बातें योरप की ही समाज-व्यवस्था से सम्बन्ध रखती हैं।

मालूम होती दीखती हैं। दुर्भाग्य से इँगलैण्ड की स्त्रियों की कृत्रिमता इतनी बढ़ गई है कि उनके जो विचार लेखों के द्वारा प्रकट होते हैं उनमें अपने निज के अनुभव और स्वावलोकन की मात्रा बहुत ही कम होती है, और दूसरों से पाये हुए उधारे ज्ञान का और बाहरी संस्कारों का भाग ही अधिक होता है। यह तरीक़ा धीरे-धीरे कम ज़रूर होगा, पर समाज-संगठन में जब तक फेर-फार न होगा, पुरुष प्रकृत शक्ति की परीक्षा जितनी स्वाधीनता से कर सकते हैं, उतनी ही स्वाधीनता और उतने ही साधन जब तक स्त्रियों को न मिल जायँगे—तब तक यह तरीक़ा भी नष्ट न होगा—किसी न किसी रूप में बना ही रहेगा। जब ऐसा समय आ जायगा, अर्थात् स्वाधीनता-पूर्वक स्त्रियों को बुद्धि-विकाश के सब साधन सुलभ हो जायँगे, तथा अपने हार्दिक विचार यथेष्ट रीति से प्रकट करने की पूरी स्वाधीनता जब उन्हें मिल जायगी—उस ही समय स्त्री-स्वभाव का वास्तविक ज्ञान हमें मिल सकता है—और अन्य बातों की व्यवस्था भी उस ही समय उसके अनुसार की जा सकेगी, इससे पहले नहीं।

२२—इतना समय इस विषय के निरूपण में लिया गया है कि स्त्रियों के वास्तविक स्वभाव को समझने में पुरुष अक्षम है,—अन्य विषयों के समान इस विषय में भी पुरुष जो सिद्धान्त बना चुके हैं वह निर्मूल अतएव अनुमान से बढ़ कर नहीं हो सकता। स्त्रियाँ किन-किन कामों के योग्य है

और किन-किन के अयोग्य है, तथा व्यवहार में उन्हें कितने हक़ दे देना योग्य और लाभदायक है—इन सब बातों का निश्चय करने के लिए जिस यथार्थ ज्ञान के सम्पादन करने की ज़रूरत है उसके योग्य साधनों के अभाव के कारण पुरुष को इस आवश्यक और अत्यन्त महत्त्व के विषय का ज्ञान प्राप्त होना सम्भव नहीं। यदि वास्तविक रीति से देखेंगे तो पुरुषों को इसका बहुत ही कम ज्ञान है, किन्तु पुरुष ऐसा ढोंग करते हैं मानो उन्हें इस विषय का पूरा ज्ञान है। जब तक इसी प्रकार की स्थिति बनी रहेगी तब तक इस विषय पर जैसा चाहिए वैसा विवेचन होना ही सम्भव नहीं। यह हर्ष का विषय है कि, संसार में स्त्रियों का स्थान कौनसा है इसका निश्चय करने के लिए इस प्रकार के ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि वर्त्तमान समय की समाज-व्यवस्था पर दृष्टि रखते हुए यदि इस विषय पर विचार करेंगे तो मालूम होगा कि इसका निर्णय स्वयं स्त्रियों को ही करना चाहिए। समाज में अपना स्थान कौनसा है, इस प्रश्न का निर्णय स्त्रियों को अपने अनुभव और अपनी बुद्धि से करना चाहिए। कोई एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों का समुदाय क्या-क्या करने के योग्य है, इसका निर्णय करने वाला केवल एक ही साधन है, और वह यह है कि उसे उसके मनचाहे काम के करने की आज्ञा देनी—उसे अपनी आज़माइश करने को स्वाधीनता देनी। इसके सिवा अन्य किसी भी उपाय से

इसका उत्तम निर्णय हो ही नहीं सकता। इस ही प्रकार जो मनुष्य इस बात का निर्णय करने में प्रवृत्त हो कि, अमुक मार्ग का अनुसरण करने पर उसे सुख होगा, या उसका अनुसरण न करने पर सुख होगा, यदि इसका कोई निश्चय करना चाहेगा तो निश्चय पर पहुँचने के लिए कोई साधन उसके हाथ ही न लगेगा।

२४—यह बात हमें अच्छी तरह समझ रखनी चाहिये कि यदि हम स्त्रियों को पूर्ण स्वाधीनता दे देंगे तो केवल इतने ही कारण पर स्त्रियाँ उस काम को करने में प्रवृत्त कभी न होंगी जो उनके स्वभाव के प्रतिकूल है, स्वाधीनता मिलने पर अपनी वास्तविक इच्छा के विरुद्ध नहीं जा सकतीं। मनुष्यों को प्रकृति के बीच में रुकावट डालने की आदत छोड़ देनी चाहिए। मनुष्यों को ऐसे व्यर्थ के हाथ पैर पीटने छोड़ देने चाहिएं कि वे सृष्टि के हेतु को निष्फल कर सकेंगे, या प्रकृति अपने मनोरथ को पूरा न कर सकेगी—यह तो हो ही नहीं सकता। जिस काम को स्वाभाविक रीति से स्त्रियाँ करने के योग्य ही नहीं है, जिस काम में वे सर्वथा असमर्थ हैं—उस काम के लिए उन्हें मना करना, सर्वथा निरर्थक और अनुपयोगी है। इस ही प्रकार जो काम ऐसे होंगे जिन्हें स्त्रियाँ पुरुषों से अच्छा नहीं कर सकेंगी, उन कामों में भी क़ानूनन रोकने की अपेक्षा पुरुषों की स्पर्द्धा ही काफ़ी होगी; क्योंकि कोई यह माँगता ही नहीं कि तुम स्त्रियों पर विशेष

दया-दृष्टि रक्खो और उन्हें प्रोत्साहन दो। माँगना सिर्फ यह है कि तुमने प्रत्येक काम में पुरुषों को जो विशेष अनुकूलता कर दी है, उसे रद्द कर दो। जिन स्त्रियों की बुद्धि ऐसी होगी जो अन्य कामों और अन्य प्रवृत्तियों में विशेष चल सकती होगी, तो स्वाभाविक रीति से वे उन प्रवृत्तियों की ओर विशेष लक्ष्य देंगी, उन कामों में सब से अधिक भाग लेंगी, इसके लिए क़ानून बनाने की ज़रूरत नहीं है और समाज के द्वारा नियम निश्चित करने की भी आवश्यकता नहीं है। अनियंत्रित स्पर्द्धा के नियम के अनुसार जिस काम की ओर स्त्रियों की प्रवृत्ति सब से अधिक होगी, अर्थात् जिसे स्त्रियाँ सबसे अधिक पसन्द करती होंगी, उस काम को केवल अपने ही अधिकार में कर लेने के लिए वे अपने आप अधिक उत्सुक होंगी; और यह बात तो स्पष्ट ही है कि स्त्रियाँ जिस काम के सर्वथा योग्य होंगी, उसे ही वे सब से अधिक पसन्द करेंगी। इस तरह काम का बँटवारा हो जाने पर अर्थात् स्त्री-पुरुषों के बीच इस प्रकार काम का विभाग हो जाने पर, दोनों की बुद्धि केवल समाज के हित की ओर झुक जायगी—यह निर्विवाद है।

२५—स्त्रियों के विषय में पुरुष-वर्ग का सामान्य सिद्धान्त यह है कि प्रकृति से स्त्रियों के लिए दो कर्त्तव्य निश्चित हुए है। एक पत्नी के रूप में और दूसरा मातृ-रूप में। किन्तु समाज की जो प्रस्तुत व्यवस्था है, तथा व्यवहार में मनुष्यों का

जो बर्ताव देखने में आता है ; उन दोनों पर विचार करेंगे तो इस बात को मानने के कारण मिल जायँगे कि लोगों का सच्चा मतलब इससे विरुद्ध है। पुरुषों की बातों से ऐसा मालूम होता है कि वे स्त्रियों के लिए जिन कर्त्तव्यों का होना प्रकृतिदत्त बताते हैं, वे वास्तव में स्त्रियों के स्वभाव से प्रतिकूल हैं ; क्योंकि ऊपर कहे हुए दो कर्त्तव्यों के अलावा भी और काम करने की आज़ादी यदि उन्हें हो, यानी अपनी पसन्द के मुताबिक़ जीवन-निर्वाह के और काम भी, वे पूरी आज़ादी से कर सकती हों, या जिस काम में उनका मन लगता हो उसमें अपनी विद्या, बुद्धि और समय का उपयोग पूरी आज़ादी के साथ कर सकती हों,—तो जो काम उनके स्वभाव के अनुकूल कह कर उनके गले बाँध दिये जाते हैं, उन्हें वे राज़ी से नहीं करेंगी—इस बात को पुरुष जानते होने चाहिएँ। यदि पुरुष-वर्ग का स्त्रियों के प्रति यही ख़याल हो तो उन्हें प्रकट कर देना चाहिए। आज तक स्त्रियों को पराधीन रखने के विषय पर जितने लेख, पुस्तकें लिखी गईं और व्याख्यान दिये गये उनका छिपा हुआ मत-लब निम्नलिखित ही है, किन्तु यदि कोई पुरुष खुले-खुले भी यह प्रतिपादन करे कि,—"समाज-संगठन को बनाये रखने के लिए यह अत्यावश्यक है कि स्त्रियाँ विवाह करके सन्तान उत्पन्न करें। यदि स्त्रियों का यह कर्त्तव्य न बनाया जाय तो राज़ी-ख़ुशी से वे इसे करने को तैयार नहीं हो

सकतीं, इसलिए उनका यह कर्त्तव्य बनाना जरूरी है।" यदि यह बात साफ़ कह दी जाय तो इसके गुण-दोष पर विचार करना और भी अधिक सरल हो जाय। गुलामी का प्रतिपादन करने वाले साउथ कैरोलीना और ल्युज़ियाना (South Carolina and Louisiana) प्रान्त वाले गुलामों के मालिक भी इस ही प्रकार के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते थे। वे कहते थे कि,—"कपास और गन्ने की खेती के बिना काम नहीं चल सकता। और गोरे मनुष्य उसका काम कर नहीं सकते। यदि हबशी (निग्रो) आज़ाद कर दिये जायँगे तो फिर उन्हें चाहे जितना वेतन दिया जाय वे ऐसा काम न करेंगे। इसलिए उन्हें पराधीन रख कर दबाव से काम लेना ही उत्तम है।" ज़ोर-ज़ुल्म (Impressment) से जहाज़ के ख़लासी बनाने के विषय में भी यही कहा जाता था कि,—"देश की रक्षा के लिए लड़ाके जहाजों पर काम करने के लिए ख़लासियों का होना जरूरी है। विशेष करके ऐसे प्रसंग आते हैं जब लोग राज़ी से ख़लासीगीरी करना पसन्द नहीं करते। इसलिए उन्हें ज़ोर-ज़ुल्म से इस में दाख़िल करना चाहिए।" इस तर्क का उपयोग लोग व्यवहार में कितना अधिक करते हैं! यदि इस तर्क में एक छिद्र न रहा होता तो आज-कल भी इसका उपयोग मजे में किया जाता; इस सिद्धान्त की भूल इस प्रकार प्रकट होती है कि,—"ख़लासियों के परिश्रम के अनु-

ग्रार उनका योग्य वेतन देने की बात सबसे पहले कही। एक दूकानदार की नौकरी करने पर उसे जो वेतन मिल सकता है, उतना ही वेतन उसे तुम्हारी नौकरी करके भी प्राप्त होना चाहिए। इस प्रकार करने से दूसरे कारखाने वालों को जैसे मज़दूर मिलने में दिक्कत नहीं होती वैसे ही तुम्हें भी न होगी।" इसका जवाब क्या हो सकता है? "ऐसा करने की हमारी इच्छा नहीं है" बस, यही उत्तर है। पर इस समय दीन मनुष्यों की रोज़ी पर पत्थर फेंकते हुए लोगों को दया आती है, तथा यह करने की उनकी इच्छा भी नहीं होती—इसलिए यह रीति बन्द होगई। जो लोग स्त्रियों के जीवन-निर्वाह के तमाम रास्तों को बन्द करके केवल एक विवाहित मार्ग ही खुला रखना चाहते है, वे भी इसी अपवाद के पात्र हैं। स्त्रियों को इस प्रकार पराधीन बनाये रखने के लिए जो समर्थन किया जाता है उसका साफ़ मतलब यह ज़ाहिर होता है कि पुरुष ऐसा कुछ नहीं करते जिससे स्त्रियों को विवाहित दशा अपने आप ही पसन्द हो, और इसीलिए स्त्रियों की दृष्टि में ऐसी कोई बात इस स्थिति के विषय में नहीं आती कि जिससे वे स्वयं इसके पक्ष में हों। यदि हम किसी मनुष्य को कुछ इनाम देने को कहें और साथ ही उसे यह भी बता देवें कि "लेना हो तो यह ले, नहीं तो और कुछ न मिलेगा," तो इसका मतलब यह होता है कि हम जो इनाम दे रहे है वह खुद हमें ही अच्छा नहीं लगता;

नहीं तो हम उसे इस बात की आज़ादी क्यों नहीं दे देते कि वह जो कुछ चाहे सो माँगे। मुझे मालूम होता है कि जितने पुरुष औरतों को आज़ादी देने के ख़िलाफ़ है उन सब के हृदयों में भी कुछ ऐसी ही बातें चक्कर मारती रहती है। उन आदमियों के बारे में मेरा यह भी ख़याल होता है कि उन्हें यह डर तो नहीं होगा कि शायद आज़ाद होने पर औरतें विवाह करना पसन्द ही न करें, बल्कि उनके हृदयों में यह डर जरूर बना रहता होगा कि शायद औरतें यह हठ ठानलें कि विवाह करना हो तो बराबरी के हक़ पर करो; या जिन औरतों में कुछ भी समझ और बुद्धि होगी वे यह मान बैठें कि विवाह करके बेफ़ायदे एक आदमी के गुलाम बनने से क्या लाभ—इसलिए वे और किसी धन्धे या व्यवसाय से अपना जीवन-निर्वाह करना जियादा पसन्द करें। और यदि सचमुच विवाहका अर्थ यही होता हो कि अपनी स्वाधीनता खोकर दूसरों को ग़ुलाम बन जाना, और अपनी तमाम सम्पत्ति पर दूसरे का अधिकार करा देना—तो जिन पुरुषों के मनों में औरतों की आज़ादी से डर है वह सच्चा है और सकारण है। यदि स्त्रियों को उत्तम से उत्तम प्रतिष्ठा प्राप्त करने वाले कामों के करने की पूरी आज़ादी हो, तो कोई उच्च प्रकृति के गुणों वाली, या दूसरे इज़्ज़त के काम करके अपने जीवन-निर्वाह की शक्ति रखने वाली स्त्री विवाहित जीवन को पसन्द नहीं करेगी—इसे मैं भी मानता हूँ,—केवल जो

स्त्रियाँ विलक्षण मोह-जाल में लिपटी होंगी और जिन्हें अपने शरीर का ज्ञान या विचारशक्ति न होगी और पुरुषों के सिवाय और कुछ देखती ही न होंगी—उनकी बात न्यारी है। और जो पुरुष यह पक्का इरादा कर बैठे हों कि स्त्रियों को विवाहित दशा में ही रखना और उन्हें सब तरह से अपनी तावेदार ही बनाना—तो स्त्रियों को विवाह के सिवाय और किसी धन्धे या उद्योग में न लगने देने वाली उनकी युक्ति या पॉलिसी—युक्ति के लिहाज़ से पसन्द करने योग्य है। पर सचमुच जो यह बात ऐसी ही हो तो, स्त्रियों के मन पर पड़े हुए गहरे काले अज्ञान के परदे को शिक्षा के द्वारा हटाने का प्रयास करना निरी मूर्खता है—बड़ी भारी भूल है। स्त्रियों को जो साधारण और उच्च शिक्षा दी जाती है उसकी ज़रा भी आवश्यकता न थी। जो स्त्रियाँ समाचार-पत्र और पुस्तकें पढ़ सकती हैं वे इस स्थिति के लिए काँटे के समान है और जो लेखों और पुस्तकों के द्वारा अपने विचार प्रकट करने की शक्ति रखती है, वे ऐसी समाज-व्यवस्था के लिए सर्वथा असंगत है। वे समाज की इस स्थिति में क्षोभ पैदा करने वाली हैं। और स्त्रियों को केवल ऐसी ही शिक्षा देनी चाहिए थी कि जिससे वे घर की लौंडी और ज़नानख़ाने की बाँदी का ही कर्त्तव्य पूरा कर सकतीं। उन्हें ऐसी ही शिक्षा देनी चाहिए थी। इसके अलावा जो और-और प्रकार की शिक्षा स्त्रियों को दी गई—यह बड़ी भारी भूल होगई। यही मानना चाहिए।

दूसरा अध्याय।

१—अब तक स्त्रियों की पराधीनता का सामान्य विवेचन किया गया है। प्रारम्भ से इस विषय का विवेचन करते-करते हम जिस विभाग तक आपहुँचे थे, अब उससे आगे का ही विवेचन करना ठीक है, अर्थात् अब हमें यह खोजना है कि इस देश तथा अन्य देशों के क़ायदों में कौन-कौन से बन्धन विवाह के क़ौल-करारों के आवश्यक परिणाम माने जाते हैं। विवाह करना ही स्त्रियों का परम कर्त्तव्य है, समाज की ऐसी अचूक शिक्षा प्रचलित रहने के कारण, और निरन्तर यह सिखाते रहने के कारण कि विवाह के द्वारा पुरुष के अधीन होने के सिवाय स्त्री की और कोई गति ही नहीं है, तथा विवाह-व्यवस्था पर झकमार कर उन्हें राज़ी होना ही पड़े, इस हेतु को सिद्ध करने के लिए सब सामाजिक और राजनीतिक दरवाजे उनके लिए बन्द कर दिये गये, तथा इस विषय की उनकी दाद-फ़रियाद सुनने के लिए रूढ़ि और नीतिशास्त्र के द्वारा सब के कान भर दिये हैं—यदि साधारण तौर पर हम विवाह के विषय में यही अनुमान करें तो इसमें कुछ भी बुरा नहीं कहा जा सकता। किन्तु स्थिति इससे निराली है। अपना हेतु सिद्ध करने के लिए समाज ने और बहुत सी बातों के समान इस में भी सीधा रास्ता छोड़

दिया है और उलटा पकड़ा है। पर उन बहुत सी बातों में पीछे से टेढ़े रास्ते को छोड़ कर सीधा ही रास्ता पकड़ा गया है, किन्तु केवल इस ही विषय में लोग अब तक वही टेढ़ा मार्ग पकड़े हुए हैं। प्राचीन समय में लोग स्त्रियों को ज़ोर-ज़ुल्म से छीन ले जाते थे या उनके मा-बापों को हाट के सौदे की तरह दाम देकर ख़रीद लेते थे। इस ही प्रकार योरुप के इतिहास को देखेंगे तो मालूम होगा कि थोड़े ज़माने पहले ही वहाँ लड़की के सुख का अधिक ख़याल नहीं किया जाता था, उसके बाप को हक़ होता था कि वह जैसे चाहे वैसे अपनी बेटी का विवाह अपनी इच्छा के अनुसार करे * और विवाह में लड़की से तो कुछ पूछने की आवश्यकता ही नहीं थी। ईसाई धर्म की विधि के अनुसार विवाह में कन्या को "हाँ" करनी पडती थी, पर यह हाँ राज़ी ख़ुशी की और सच्चे दिल की हो ही कहाँ से सकती थी? अपने बाप के दबाव से कन्या को ज़बर्दस्ती हाँ करनी पडती थी; क्योंकि बाप के हठ के सामने कन्या का कोई वश नहीं था कि वह उसकी मन्शा में विघ्न डाले। अधिक से अधिक वह विचारी यह कर सकती थी कि यदि उसके माता-पिता उसकी इच्छा के

---

* हमारे देश में तो यह प्रथा अभी तक पूर्ण रूप से प्रचलित है। कहावत है कि 'कन्या और गाय जिसे दी जायँ उसके साथ बिना बोले चली जाती हैं।' लडका और लडकी अपने विवाह के विषय में कुछ सोच ही नहीं सकते। कन्या-विक्रय भी खूब ही है। प्राचीन काल में शास्त्रोक्त विवाह आठ प्रकार के थे, जिन में पैशाच, आसुर और राक्षस तो जंगलीपन के ही नमूने थे।

विरुद्ध करते थे तो वह धर्म-मन्दिर का आश्रय ले लेती थी और अपनी बाक़ी जीवनी तपश्चर्या और संन्यास में खो देती थी ; कन्या जब यह मार्ग स्वीकार कर लेती थी तब पिता का उस पर अधिक ज़ोर नहीं चलता था, क्योंकि उस समय धर्माचार्यों की सत्ता बड़ी प्रबल थी। विवाह होते ही उसका पति उसके शरीर और आत्मा दोनों का स्वामी बन जाता था, तथा पति को अधिकार होता था कि वह अपनी स्त्री की चाहे जैसी दशा करे। मारने वाला वही होता था और जिलाने वाला भी वही, अन्य किसी को बीच में बोलने का बिल्कुल अधिकार नहीं था, क़ायदा भी पति की सत्ता के आगे व्यर्थ हो जाता था। पति को अधिकार होता था कि वह जब चाहे तब अपनी स्त्री का त्याग कर देवे, पर पति के विरुद्ध इस प्रकार का अधिकार स्त्री को नहीं होता था। यह स्थिति ईसाई धर्म के प्रचार से पहले थी। इँग्लैण्ड के पुराने क़ायदों के अनुसार पुरुष अपनी स्त्री का पति, प्रभु या "लॉर्ड" माना जाता था। पति को अपनी स्त्री का राजा भी कह सकते थे ; क्योंकि पतिहत्या के दोष को क़ानून में छोटा सा राजद्रोह (petty treason) कहा गया है। और पति की हत्या करने वाली स्त्री को राजद्रोह से भी अधिक सज़ा दी जाती थी, वह जीती आग में जलाई जाती थी !! ऐसी अत्याचार से भरी हुई रूढ़ियाँ इस समय बन्द होगई हैं, इसलिए लोग समझने लगे हैं कि विवाह-सम्बन्ध में जो कुछ सुधार होना

चाहिए था वह हो चुका। लोग बार-बार इस बात की पुकार मचाते हैं कि सुधार और ईसाई धर्म इन दोनों के कारण स्त्रियों का जितना सुधार होना चाहिए उतना हो चुका। पर सच बात तो यह है कि आज भी स्त्री का दरजा पति के घर की दासी के बराबर ही है और जो क़ानून की दृष्टि से देखेंगे तो उसका स्थान ग़ुलामों से बढ़ कर नहीं है। विवाह के समय उसे जन्मभर पति की ताबेदारी में रहने की प्रतिज्ञा करनी पड़ती है, और उससे इस प्रतिज्ञा को पूरी कराने के लिए क़ानून सदा तैयार रहता है। बहुत से कहेंगे कि पति की आज्ञा में रहना स्त्री का मर्यादित कर्त्तव्य ही है, क्योंकि उदाहरणके तौर पर यदि पति स्त्री को किसी दोष में शामिल रहने के लिए कहे तो उसे क़ानून के अनुसार नाहीं कर देने का हक़ है; पर यह तो निश्चित है कि बाक़ी और सब बातों में उसे पति का कहना करना ही पड़ेगा—पति का यही अनियंत्रित अधिकार है। पति की आज्ञा के बिना स्त्री को किसी काम के करने की इजाज़त नहीं है। स्त्री जो कुछ सम्पत्ति प्राप्त करे उस पर नियमानुसार उसके पति का हक़ होता है। वारिसों के हक़ से छूट कर जो सम्पत्ति स्त्री की कहलाई उसी पर झट से पति का हक़ हुआ। इस स्थिति में पड़ी हुई इँग्लैण्ड देश की स्त्रियाँ अन्य देशों के ग़ुलामों से भी ख़राब थीं। उदाहरण के तौर पर रोमन लोगों के क़ायदे के अनुसार प्रत्येक ग़ुलाम की दासधन (Peculium) नामक

थोड़ी बहुत स्वाधीन पूंजी होती थी, और अपनी इच्छा के अनुसार उसका प्रबन्ध करने का उसे अधिकार होता था, इस धन पर उसके स्वामी या और किसी का कोई अधिकार नहीं पहुंचता था। इस देश (इंग्लैण्ड) में भी भूस्वामी-वर्ग कानून को रद्द करके रोमन लोगों के अनुसार अपनी स्त्रियों को विशेष खर्च के लिए कुछ देते हैं, जिसे स्त्रीधन (pin-money) कहते हैं। लड़की के पिताका प्रेम स्वाभाविक रीति से दामाद की अपेक्षा लड़की पर अधिक होता है, यह एक स्वाभाविक नियम है, क्योंकि चाहे जो हो पर फिर भी दामाद पराया ही है। इसलिए बहुत से धनी अपने धन की व्यवस्था कर जाते हैं कि उनकी बेटी को जो सम्पत्ति उनकी वसीयत से मिलेगी उसका तमाम या थोड़ा सा भाग भी दामाद के हाथ न पड़े— अर्थात् विवाहित होने पर भी लड़की ही उसकी अधिकारिणी बनी रहे। पर इस प्रकार की व्यवस्था से भी यह बात तो पैदा नहीं की जा सकती कि उस सम्पत्ति पर उस लड़की का ही पूरा स्वत्व बना रहे, यह कैसे हो सकता है। जियादा से जियादा यही किया जा सकता है कि उसके ख़ाविंद को उस सम्पत्ति के बर्बाद करने का हक़ न हो, पर वह उसके मालिक यानी स्त्री से भी पूरी उपभोग में नहीं लाई जा सकती। अर्थात् प्रत्यक्ष सम्पत्ति तो और किसी के अधिकार में नहीं आसकती; और उसकी पैदावार के बारे में भी यदि कोई पिता अपनी पुत्री का अधिक से अधिक हित करे तो यह ही

सकता है कि उसका पति उस सम्पत्ति को पैदाइश वालावाला नहीं ला सकता—यानी उसकी आमद भी बेटी के ही हाथ में पहुँचे। पर स्त्री के हाथ में आई हुई रक़म उसका पति यदि ज़बरदस्ती भी उससे छीनले तो उसकी फ़र्याद सुनने वाला कोई नहीं है। छीन लेने पर उसे क़ानूनन सज़ा भी नहीं होसकती और यह आज्ञा भी नहीं दी जासकती कि स्त्री को वह रक़म वापिस देवे। इस देश (इँग्लैण्ड) के नियमों के अनुसार सब से अधिक प्रबल भूस्वामी-वर्ग भी यदि अपनी पुत्री को पति से रक्षा करना चाहे तो वह भी मजबूर है*। बाक़ी और स्त्रियों के साथ तो इस प्रकार की कोई व्यवस्था होती ही नहीं, इसलिए स्त्रियों के तमाम अधिकार, सम्पूर्ण सम्पत्ति, सम्पूर्ण व्यावहारिक स्वाधीनता पर पति का पूरा अधिकार हो जाता है। क़ानून की दृष्टि में स्त्री और पुरुष मिल कर एक व्यक्ति ही माना जाता है, पर इसका अर्थ इतना ही होता है कि जो कुछ स्त्री का है वह उसके पति का ही है; इससे उलटा यह अर्थ कोई नहीं करता कि जो कुछ पति का है वह सब स्त्री का ही है।

---

* इस पुस्तक के प्रसिद्ध होने के बाद स्त्रियों की दशा सुधारने के लिए इँग्लैण्ड में बड़ा शोर मचा था। और उसके परिणाम में १८७० ई० में Married women's property act नामक क़ानून प्रचलित किया गया था, इसमें स्त्रियों को अपनी सम्पत्ति के थोड़े हक़ मिले थे, पर सम्पत्ति के सम्बन्ध में पूरी स्वाधीनता १८८२ ई० के क़ानून से हुई है।

दूसरे शब्दों में कहें तो "जो कुछ तेरा सो मेरा, और मेरा सो है ही" यही पुरुषों का नियम है। पुरुषों के विरुद्ध इस प्रकार का न्याय कभी नहीं किया जाता। जैसे अपने जानवर या अपने ग़ुलाम के काम का जवाबदार उसका मालिक समझा जाता है, स्त्रियों के विषय में उनके पति वैसे ही समझे जाते हैं। इस बात से मेरा मतलब यह नहीं कि पुरुष स्त्रियों के प्रति जो बर्ताव करते हैं वह ग़ुलामों से किसी प्रकार अच्छा नहीं होता; पर स्त्रियाँ पुरुषों की पराधीनता में रह कर जिस परिमाण में ग़ुलामी भोगती हैं उस परिमाण में कोई पुरुष-दास भी ग़ुलामी नहीं भोगता। स्वामी की देख-रेख में रहने वाले दासों के सिवाय किसी ग़ुलाम को चौबीसों घण्टे ग़ुलामी नहीं भोगनी पड़ती। प्रत्येक दास का काम निश्चित होता है, उसे पूरा करने के बाद वह अपने बाक़ी समय को स्वाधीनता-पूर्वक बिता सकता है; फिर वह अपने कुटुम्ब का आनन्द उपभोग कर सकता है, उसका स्वामी भी उस में किसी प्रकार का विघ्न नहीं डालता। पर स्त्रियाँ तो ग़ुलामों के बराबर भी स्वाधीन नहीं हैं, बल्कि ग़ुलामों से निकृष्ट उनकी यह दशा है कि, यदि दासियों का स्वामी उनसे उनकी इच्छा के विरुद्ध सम्भोग-सुख प्राप्त करना चाहे तो वे कानूनन उसे रोक सकती हैं। पर विवाहित स्त्री को तो ऐसा कोई हक़ ही नहीं है। दुर्भाग्य से स्त्रियाँ चाहे जैसे क़साई-प्रकृति वाले पुरुषों के अधीन होगई हों, वह उन्हें चाहे जैसे हैरान करके आनन्द मनाता

हो, और उसका बर्ताव सर्व्वथा ऐसा ख़राब हो कि उसकी ओर से स्त्री के मनमें धिक्कार आती हो, फिर भी उसे ऐसा काम करने से जिसमें मनुष्य-प्राणी की घोर अवमानना भरी है, अर्थात् स्त्री की इच्छा के विरुद्ध उससे रतिसुख प्राप्त करने से क़ायदा उसे नहीं रोक सकता। इस प्रकार स्त्री को अपने मन, आत्मा और शरीर बेच कर भी पतित से पतित और नीच से नीच ग़ुलामी जन्म भर भोगनी पड़ती है; इतना ही नहीं बल्कि अपने पेट से पैदा हुए बच्चे के विषय में भी स्त्री का किसी प्रकार का अधिकार नहीं माना जाना। लड़के पर स्त्री और पुरुष दोनों का समान प्रेम होता है, और उसकी भलाई में दोनों को प्रसन्नता होती है, पर यह सब कुछ होते हुए भी क़ानून की नज़र से लड़का बाप की मिल्कियत समझा जाता है। और क़ायदे में मा-बाप का जो थोड़ा सा हक़ भी माना जाता है, उसे भी बाप ही भोगता है। बाप की सम्मति के बिना मा लड़के के विषय में अपने आप कुछ नहीं कर सकती। बाप के मरने के बाद भी मा लड़के की वारिस नहीं क़रार दी जाती,—केवल वसीयत के अनुसार जिसे वह अधिकारी बना गया हो वही वारिस होता है। यदि बाप चाहे तो लड़के को मा से अलग कर सकता है, और यह भी कर सकता है कि उन दोनों को कभी मिलने न देवे, उनका पत्र-व्यवहार भी न होने देवे। क़ानून ने स्त्रियों की यह दशा बना डाली है, और उनके हाथ में ऐसा कोई साधन है जो

नहीं कि जिसके सहारे वे ऐसी पराधीनता से छुटकारा पा सकें। यदि वे अपने पति को छोड़ कर जाना चाहें, तो वे अपने साथ अपने लड़के को भी नहीं ले जासकतीं, इतना ही नहीं बल्कि वह धन, जो खास उनकी मिल्कियत है उसे भी अपने साथ नहीं ले जा सकतीं। पर यदि पति चाहे तो क़ानून के ज़ोर पर या शारीरिक बल पर ही स्त्री को अपने घर से निकाल सकता है; और यदि वह यह भी न करके दूसरे रास्तों का भी सहारा पकड़े तब भी वह आजाद है। यदि अपनी भागी हुई स्त्री मिहनत-मज़दूरी करके कुछ कमावे, या उसे उसके रिश्ते-नाते वालों से कुछ सहायता मिले—और पति उसके हाथ में आई हुई वह रक़म छीनना चाहे तो छीन सकता है, पर क़ानून उस पर किसी तरह का एतराज़ नहीं कर सकता। यदि पति के आश्रय को छोड़ कर भागी हुई स्त्री को फाँसी की तख़्ती पर से भागे हुए क़ैदी पर क्रोधित जेलर के समान पति के आश्रय में फिर न जाना पसन्द हो, और अपनी कड़ी मिहनत-मज़दूरी का पैसा यदि वह दुरात्मा पति से छीना जाना पसन्द न करती हो, तो उसे न्यायालय का आश्रय लेकर पति से न्यारी रहने का हुक्मनामा प्राप्त करना चाहिए। क़ानून की सहायता से अपने विवाह-सम्बन्ध को तोड़ने में आजतक इतना ख़र्च होता था कि रईस-घरानों की स्त्रियों को छोड़ कर साधारण स्त्रियाँ उनसे कोई लाभ नहीं उठा सकती थीं।

इस समय यदि पति ने अपनी स्त्री घर के बाहर निकाल दी हो, या उसका उस पर बहुत ही घातकी व्यवहार हो—यदि इन दोनों बातों में से एक भी साबित न हो तब भी विवाह-बन्धन खुल जाता है, ऐसा होजाने पर लोगों की पुकार है कि तलाक़ देने का काम इस ज़माने में बड़ा ही सीधा होगया है। सचमुच समाज ने स्त्रियों को पति की ग़ुलामी के अलावा और कोई आज़ादी नहीं दी, इसलिए यदि स्त्रियों के सौभाग्य से उन्हें ऐसा पति मिलजाय जो उन्हें कम से कम बोझा ढोने वाला जानवर न समझ कर, पालतू जानवर ही समझे, तब ही उन्हें थोड़ा बहुत सुख मिलना सम्भव है। फिर जिस पति पर उसके सम्पूर्ण जीवन के सुख-दुखों का आश्रय है और सदैव जिसकी ग़ुलामी करनी है, उसकी जाँच करने का केवल एक ही अवसर मिलना क्या उसकी कमनसीबी नहीं है? इन सब बातों से यह अनुमान निकलता है कि उसका सम्पूर्ण सुख पति के अच्छे-बुरे निकलने ही पर है, फिर एक दूसरे की आज़माइश करके अच्छे-बुरे के पजोख लेने की आज्ञा उसे अवश्य होनी चाहिए। इस बात से मेरा मतलब यह नहीं है कि स्त्रियों को यह हक़ मिलना चाहिए, क्योंकि यह बात ही न्यारी है। इस विवेचना का विषय यह नहीं है कि एक पति के साथ वाले विवाह को रद करके दूसरे के साथ विवाह करने का हक़ स्त्री को होना चाहिए—यह मतलब नहीं है। मेरा कहना सिर्फ़ यह है कि समाज ने जिनके

लिए गुलामी का दरवाज़ा छोड़ कर और कोई रास्ता ही नहीं खोला, उन्हें इतनी आज़ादी ज़रूर मिलनी चाहिए कि वे गुलामी के लिए अपना मालिक अपने-आप पसन्द करें, इससे उनके दुखों में थोड़ी-बहुत कमी हो ही होगी। इतनी सी भी आज़ादी न देना—उन्हें गुलामी और नीची से नीची गुलामी भुगवाने के समान है। क्योंकि जो मालिक अपने गुलामों से अत्यन्त घातकी व्यवहार करते थे, उन्हें क़ानूनन अपने गुलामों को बेचने के लिए मजबूर होना पड़ता था; पर इङ्गलैण्ड जैसे सुधरे हुए देश में पति अपनी स्त्री पर चाहे जैसा घातकी व्यवहार करे, पर जब तक न्यायालय में उसे व्यभिचारी साबित न किया जाय तब तक उस बिचारी का उस क़साई से छुट-कारा नहीं हो सकता।

२—अपने बोलने में अतिशयोक्ति लाने की मेरी इच्छा नहीं है, और मेरा विषय भी ऐसा है जिस में अतिशयोक्ति की आवश्यकता भी नहीं है। मैंने क़ानून के अनुसार स्त्रियों की दशा का दिग्दर्शन कराया है, लोग प्रत्यक्ष रीति से उनके साथ कैसा व्यवहार करते हैं यह मैंने नहीं लिखा। बहुत से देशों के क़ानून उसे अमल में लाने वाले लोगों से भी अधिक ख़राब होते हैं, और बहुत से क़ानून जो क़ानून के रूप में टिके रहते हैं उसका कारण यह होता है कि उनका प्रयोग कहीं-कहीं ही होता है। क़ानून में स्त्री-पुरुषों की जैसी कल्पना की गई है, वैसी ही विवाहित स्त्री-पुरुषों की

स्थिति यदि प्रत्यक्ष होती तो निस्सन्देह मनुष्य-समाज नष्ट हो जाता। सद्भाग्य से मानसिक वृत्तियों का यह हाल होता है कि अपने अधीनस्थ पर अत्याचार कराने वाली जो कुप्रवृत्तियाँ होती हैं उन्हें मनुष्य की स्वार्थबुद्धि और अन्तः-करण की साधु वृत्तियाँ अपने अंकुश में रखती है, अर्थात् साधुवृत्तियों के कारण मनुष्य संयम में रहता है। पुरुष में स्त्री के प्रति जो मोह-माया होती है, वह ऐसी वृत्तियों का उत्कृष्ट उदाहरण है। ऐसी वृत्तियों का दूसरा अच्छा उदाहरण पिता-पुत्रका वात्सल्य प्रेम है; और यह सम्बन्ध पति-पत्नी के बीच में किसी प्रकार रुकावट न डाल कर उलटा उसे अधिक दृढ़ करता है। ऐसी दशा होने के कारण तथा ऊपर बताई हुई ममता के वश होकर पुरुष अपने अधिकार को पूरा काम में नहीं लाते, अर्थात् पुरुष स्त्री को जितना कष्ट दे सकते हैं उतना नहीं देते। इसलिए वर्त्तमान समाज-व्यवस्था के पक्षपाती यह सिद्धान्त निकालते हैं कि वर्त्तमान व्यवस्था के अनुसार स्त्री-पुरुषों के सम्बन्ध में जो कुछ ख़राबियाँ है वे क्षन्तव्य हैं और इसके विरुद्ध कुछ भी बोलना व्यर्थ है, क्योंकि प्रत्येक अच्छी बात के साथ कुछ न कुछ खोट लगा ही रहता है। क़ानून के अनुसार किसी प्रकार का अत्याचार करने की इजाज़त हो, पर प्रत्यक्ष व्यवहार में लोग बहुत ही सीधे और नरम बने हों, यानी क़ानून के आश्रय होने पर भी अत्या-चार न किया जाता हो, तो क्या इससे यह सिद्ध होता है कि

उस अन्याय को अहित्व में रखना योग्य है; बल्कि इससे यही सिद्ध होता है कि प्रचलित रूढ़ि चाहे जितनी ख़राब और नीच हो, फिर भी मनुष्य-स्वभाव से ऐसी विलक्षण शक्ति होती है कि उसको टक्कर खाते हुए भी अपनी सुजनता प्रकट करती ही है। कुटुम्ब-व्यवस्था में एक आदमी के हाथ अनियन्त्रित सत्ता को सौंपने में, और राज-व्यवस्था में एक आदमी के हाथ अनियन्त्रित सत्ता के सौंपने में कुछ भी अन्तर नहीं होता; एक पद्धति के खण्डन या मण्डन में जो दलीलें काम में लाई जा सकती हैं, वे ही दूसरी पद्धति के खण्डन या मण्डन में भी लाई जा सकती हैं। ऐसा कभी नहीं होता कि अपने महल की खिड़की में बैठा हुआ राजा अपने ज़ुल्म से लम्बी आहें भरती हुई प्रजा को आनन्द से देखे, इस ही प्रकार प्रत्येक राजा यह भी नहीं करता कि कड़ाके की सरदी में अपनी दीन प्रजा के अङ्गों के चीथड़े उतार कर उन्हें थरथराते और मरते देखता रहे; पर ऐसा न होने पर भी क्या यह कहा जा सकता है कि सब प्रकार की राजपद्धतियों से एकसत्ताक राज्य-तन्त्र अच्छा है? फ्रान्स के सोलहवें लुई का राज्य फिलिप, लीवेल, नादिरशाह और कालीगुला आदि इतिहासप्रसिद्ध घोर अत्याचारी राजाओं के समान नहीं था, फिर भी उसने जो कुछ अत्याचार किया था वह उसकी प्रजा को राज्यक्रान्ति कर देने के लिए काफी था, और उस राज्यक्रान्ति में जितने भयङ्कर और निन्द्य काम कर डाले गये वे सब राजकीय अत्याचार के सामने फीके थे।

कदाचित् कोई यह कह सकता है कि स्त्री पुरुष का सम्बन्ध यदि अत्याचार की ही नींव पर स्थापित किया गया है तो, बहुत बार उन में जो अलौकिक प्रेम दिखाई दे जाता है, वह कैसे सम्भव हो सकता है ? तो इसका उत्तर केवल यही है कि ग़ुलामी के इतिहास में भी ग़ुलाम और मालिक की वफ़ादारी के ऐसे बहुत से उदाहरण मिल जाते हैं। रोम और ग्रीस के इतिहास में बहुत से ग़ुलामों ने अपने मालिकों को विश्वासघात करके फँसाने की अपेक्षा उनके बदले ख़ुद अपनी जान दी है, ऐसे उदाहरण बहुत मिलते हैं। ग्रीस और रोम के आन्तरिक विग्रहों (civil wars) में बड़े-बड़े आदमियों को देहान्त-दण्ड, देश-निकाले आदि की सज़ा हो जाती थी। ऐसे नाज़ुक मौक़ों पर बेटों ने अपने बापों को फँसवा दिया है, किन्तु स्त्रियों और ग़ुलामों ने ऐसे अवसरों पर अचल स्वामिभक्ति और विलक्षण धैर्य्य दिखाया है—ऐसे उदाहरणों से इतिहास के पृष्ठ भरे पड़े हैं। इतना होते हुए भी, उन्हीं इतिहासों में उन्हीं ग्रीकों, रोमन लोगों के द्वारा ग़ुलामों पर घोर अत्याचार होने की बात लिखी है। पर इस पर आश्चर्य करने की कोई बात नहीं है; क्योंकि जहाँ कड़ी से कड़ी रूढ़ियाँ प्रचलित होती है, वहीं स्वामिभक्ति, पति-निष्ठा, अनन्य प्रेम आदि तीव्र मनोधर्म भी अपने आप फूट निकलते है। इस संसार में जो अनेक प्रकार की विलक्षण बातें है, उन में से ही एक यह भी है कि जिन मालिकों के

हाथ में सम्पूर्ण सत्ता होती है और वे अपने अधिकार को भयानक कड़ाई से काम में न लाकर सहृदयता और मनुष्यता से काम में लाते हैं तो उनके अधीनस्थों में जैसी भक्तियुक्त कृतज्ञता उत्पन्न होती है, वैसी अनन्यभक्ति और कहीं देखने को नहीं मिलती। बहुतों की धार्मिक निष्ठा में यह भावना बड़ी प्रबल होती है, और इसका हम विचार ही न करें तो अच्छा है। क्योंकि हम देखते हैं कि, पड़ोसियों की अपेक्षा मुझ पर ही परमेश्वर की कृपा विशेष है, यही विचार करके बहुत से लोग परमेश्वर का आभार मानते हैं।

जिस रूढ़ि या जिस विचार की रक्षा करनी होती है वह चाहे ग़ुलामी हो, चाहे अनियन्त्रित राजसत्ता हो, या कुटुम्ब के अगुआ की अनियन्त्रित सत्ता ही हो—उसके हिमायती उसके अच्छे-अच्छे उदाहरण सामने रख कर उस रूढ़ि की योग्यता और न्यायपुरस्सरता सिद्ध करनेको तैयार हो जाते हैं। उनके प्रतिपादन करने की शैली इस प्रकार होती है,—"अहाहा देखो, अमुक-अमुक मनुष्य अपने अधिकारों को कितने सदय अन्तःकरण से पूरा करते हैं, और उनके अधीनस्थ जन उनके प्रति कितना प्रेम और नम्रता प्रकट करते हैं, ये सेव्य पुरुष प्रति दिन ऐसा ही काम करते हैं जिससे उनके आश्रितों का भला हो। और उनके सेवकों की मुखाकृति सदैव कैसी प्रसन्न बनी रहती है, मानो अपने मालिकों की मङ्गलकामना करते हों!!" पर यदि कोई यह प्रतिपादन

करना चाहे कि संसार में सर्व्वथा भला मनुष्य होना ही दुर्लभ है—तो उसके उत्तर में ऊपर कहे हुए शब्द अवश्य ही सयुक्तिक होंगे। यदि कोई अनियन्त्रितसत्ता भोगने वाला मनुष्य सुशील और सदय अन्तःकरण वाला हो, तो उसके अधिकार में रहने वाले मनुष्य सुखी होंगे, और उसके प्रति शुद्ध स्वामिभक्ति और स्नेह करेंगे,—इससे इन्कार कौन करता है? इस पर सन्देह ही कौन करता है? पर क़ानून ऐसे अच्छे मनुष्यों को ही उद्देश करके नहीं बनाया जाता। रीति-रिवाज निश्चित करते समय केवल अच्छे आदमियों का ही ख़याल नहीं रक्खा जा सकता। बल्कि उन क़ायदे-क़ानूनों पर यह भली भाँति सोच-विचार लिया जाता है कि यदि एक-एक खोटे मनुष्य के हाथ वह होगा तो उसके द्वारा कैसा उपयोग होना सम्भव है। इस ही प्रकार विवाह-सम्बन्ध थोड़े से भले मनुष्यों को लक्ष्य करके निश्चित करने योग्य चीज़ नहीं है—बल्कि इसका सम्बन्ध संसार के बहुत से मनुष्यों से है। विवाह-विधि से पूर्व्व उनसे कोई इस प्रकार की लिखावट या सनद नहीं माँगी जाती कि जो अधिकार उन्हें प्राप्त होंगे उनका वे दुरुपयोग न करेंगे या अपने अधीनस्थ पर वे अधिकार करने के सर्व्वथा योग्य हैं। जिनका अन्तःकरण सदय और प्रेम से भरा होता है वे अपनी स्त्री और बच्चों से विशेष प्रेम करते हैं; और दूसरे मनुष्य जो अन्य व्यवहारों में निष्ठुर और शुष्क-हृदय होते हैं फिर भी वे अपनी स्त्री और बच्चों से सदय व्यवहार

रखते हैं यह बात यद्यपि सत्य है, पर इसके साथ ही यह भी लक्ष्य में रखने योग्य है कि संसार में जिस प्रकार सुजनता और दुर्जनता घट-बढ़ कर होती है वैसे ही कुटुम्ब-प्रेम भी मनुष्यों में घट-बढ़ कर होता है—और यहाँ तक कि बहुत से मनुष्यों का हृदय तो वज्र के समान कठोर और शुष्क होता है, उन्हें कुटुम्ब-स्नेह की गन्ध भी नहीं छूजाती। ऐसे मनुष्य किसी प्रकार के सामाजिक बन्धन से जकड़े नहीं होते, इस लिए उन्हें दाव में रखने के लिए समाज को क़ानून के द्वारा सत्ता का उपयोग करना पड़ता है। ऐसे निन्द्य, कठोर स्वभाव वाले मनुष्यों के हाथ में भी क़ायदे के अनुसार पतिपन के सब अधिकार होते हैं। अत्यन्त नीच और दुष्ट स्वभाव वाले मनुष्य के हाथ में भी कमनसीब स्त्री की तक़दीर सौंपी जाती है, और उसे क़ानून के अनुसार जान से मारने को छोड़ कर बाक़ी और सब कुछ अधिकार होता है, और यदि वह तरीक़ों और युक्तियों से काम ले तो उस बिचारी की ऐसी हालत भी कर सकता है कि वह अपने आप ही मर जाय; पर क़ानून का हाथ उसकी रक्षा नहीं कर सकता—उसे बचा नहीं सकता। प्रत्येक देश में हज़ारों ऐसे निम्न श्रेणी के मनुष्य होते हैं जो अपने आपको निर्बल या अयोग्य समझ कर दूसरों के सामने पड़ने का भी साहस नहीं करते—उन्हें हिम्मत भी नहीं होती कि वे दूसरों के सामने बोल भी सकें, इसलिए क़ानून की दृष्टि से वे दोषी नहीं ठहराये जा सकते, पर वे ही मनुष्य

"कमज़ोर ख़ाविन्द औरत पर शेर" वाली कहावत के अनुसार अपनी दीन स्त्री पर अपना बुख़ार उतारते हैं ; उसे हर तरह से तङ्ग और हैरान करने में उन्हें प्रसन्नता प्राप्त होती है ; क्योंकि उन्हें इस बात का विश्वास होता है कि उस में अपना सामना करने की ताक़त नहीं है, और वह उनके हाथ से छूट भी नहीं सकती। उन मनुष्यों के मनों में इस प्रकार के विचार तो आते ही नहीं कि यह बिचारी अबला सब प्रकार से निराधार है और हम सब प्रकार से स्वाधीन हैं, उसके जीवन का सब कुछ आधार हमीं पर अवलम्बित है और उसका जीवन विश्वास के साथ हमारे हाथ में आया है, इसलिए उसके प्रति उदारता, सहृदयता और प्रेम से बर्ताव करना और अपने आवेश के अंकुश को अपने वश में रखना हमारा कर्त्तव्य है—इसे तो वे सोचते ही नहीं ; बल्कि उस बिचारी की वैसी निराधार स्थिति देख कर उनका मन सङ्कुचित होने के बदले उलटा दुष्टता धारण करता, और वे इस प्रकार के विचार करते है कि,—"यह मेरी निजू चीज़ के समान है, मै इसका जैसे चाहूँ वैसे उपभोग कर सकता हूँ—क़ायदे-क़ानून सब मेरे पक्ष में हैं। अन्य अपनी बराबर वाले या साधारण लोगों से भी जितनी नम्रता और सभ्यता दिखाई जाती है, उतनी नम्रता और सभ्यता से भी उसके साथ पेश आने की क्या ज़रूरत है।" कुटुम्बों के भीतर इस प्रकार के अन्याय चर्म्म-सीमा पर पहुँचे रहने पर भी क़ानून उनका कोई निपटारा

नहीं कर सकता। अभी थोड़े समय से इस प्रकार का क़ानून बना है जो ऐसे अत्याचार पर कुछ अङ्कुश रखता है, पर उसके विषय में यदि यह कहा जाय कि वह निष्फल हो रहा तो ठीक होगा। क्योंकि यह कैसे हो सकता है कि एक ओर तो बकरे को उसी कसाई के हाथ रखना, और दूसरी ओर यह चाहना कि बकरे को मारने वाली क़साई की मनोवृत्ति अङ्कुश में रहे। हमारी बुद्धि और संसार का अनुभव कहता है कि ये दो बातें एक साथ कभी हो ही नहीं सकतीं। जिस पति पर अपनी स्त्री को शारीरिक दुःख पहुँचाने का अपराध साबित हो, या जो मनुष्य दूसरी बार भी ऐसा ही अपराध करे,—उस स्त्री को विवाह-बन्धन तोड़ने का अधिकार होगा या वह पति से भिन्न रहने की हक़दार होगी—जब तक इस प्रकार का नियम नहीं बनता तब तक केवल पति को थोड़ी सी सजा दे देने से इस विषय का सुधार हो ही नहीं सकता। क्योंकि या तो स्त्रियाँ पति के विरुद्ध दावा ही न करेंगी, या उन्हें पूरे सुबूत ही न मिल सकेंगे—और ऐसी स्थिति में पति अपना अत्याचार करते ही जायँगे।

४—प्रत्येक देश में पशुओं के समान और पशुओं से कुछ अधिक उच्च जङ्गली स्वभाव वाले मनुष्यों की तादाद सब से अधिक होती है। और ऐसे नर-पशु भी विवाह के कायदे के अनुसार एक शिकार तो ले ही मरते हैं; यदि इस अन्याय का पूरा विचार किया जाय तो मालूम होगा कि विवाह की

प्रथा के दुरुपयोग से कितनी विशाल मनुष्य-जाति पर भयङ्कर अत्याचार हो रहा है। किन्तु ऊपर वाला उदाहरण अत्यन्त नीच या अधमाधम श्रेणी वाले मनुष्यों का है। इन्हें तो यदि संसार का कूड़ा कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी; किन्तु इनसे कुछ उच्च, और उनसे फिर कुछ उच्च, इस प्रकार नीचे वाले वर्ग से कम निन्द्य और कम भयङ्कर मनुष्यों की संख्या सब से नीच अर्थात् अधमाधम और सब से उच्च अर्थात् उत्कृष्ट वर्ग वाले मनुष्यों से बहुत अधिक है। कुटुम्ब हो चाहे राज्य हो; एक मनुष्य के हाथ में बिना किसी रोक-टोक के तमाम की तक़दीर सौंप देने से, उस अधिकार का अमानुषी लाभ उठाने के लिए जो नर-राक्षस समय-समय पर प्रकट हो जाते हैं, उस ही समय अनियन्त्रित सत्ता का सच्चा रूप जान पड़ता है; उस समय ऐसा मालूम होता है कि यदि सत्ताधीश अपनी सत्ता का पूरा-पूरा उपयोग करना चाहे तो संसार का ऐसा कोई निन्द्य काम नहीं है जो वह कर न सके। और छोटे-मोटे निन्द्य और भयङ्कर काम सत्ताधीश कितने करते हैं, इसका अन्दाज़ा तो बड़ी सरलता से हो सकता है। संसार में जिस प्रकार देवता के समान साधु पुरुषों की संख्या बहुत ही कम होती है, उसी प्रकार पिशाच और राक्षस के समान अधमाधम मनुष्यों की संख्या भी कम होती है। पर प्रसङ्ग पाने पर जो सहज ही कड़े और नरम बन जायँ और हार्दिक भावों को छिपा कर प्रसङ्ग के अनुसार भाव बना लें, ऐसे मनुष्यों की

संख्या सब से अधिक होती है, अर्थात् संसार में साधारण दुष्ट वर्ग वाले मनुष्य सब से अधिक हैं। संसार के मुकुट की मणियों के समान सहज उज्ज्वल-वर्ण वाले महापुरुषों को सर्वोच्च शिखर पर रक्खा जाय, और इन राक्षस वृत्ति वाले पिशाचों को पेंदे में रक्खा जाय, तो स्वार्थी, बनावटी, तथा समय देख कर पशु-वृत्ति पूरी करने वाले मध्य श्रेणी के मनुष्यों की तादाद बीच में रक्खी जायगी। बहुत से मनुष्य बाहरी चाल-चलन, बोल-चाल और व्यवहार में प्रतिष्ठित जान पड़ते हैं, तमाम बाहरी व्यवहारों में वे क़ानून के सामने सिर झुकाकर चलते हुए मालूम होते हैं, उन व्यक्तियों के साथ वे बड़ी ही नर्मी और सभ्यता से पेश आते देखे जाते हैं जिन पर उनका दबाव नहीं पड़ता, पर भीतर से वे ऐसे दुष्ट होते हैं कि जो अभागा प्राणी उनके आश्रय में आपड़ा है, जिसे संसार भर में केवल उन्हीं का सहारा है उससे वे त्राहि-त्राहि कराते है; उस आधीन प्राणी पर उनका ज़ुल्म इतना घृणित और कड़ा होता है कि उसे अपना जीवन भार और समय काटना आफ़त मालूम होता है। मनुष्य को अनियन्त्रित सत्ता के अयोग्य सिद्ध करना, उदाहरण और दलीलें देना, इसका पिष्टपेषण करना ही है, पाठकों का समय व्यर्थ लेना है; क्योंकि भिन्न-भिन्न राज्य-पद्धतियों के विषय में कई शताब्दियों तक लोगों में जो चर्चा चली थी, वे सब दलीलें सभ्य देश वालों को ज़बानी याद हो गई है, फिर भी एक

सूत्र लिखे बिना इस स्थान से छुटकारा नहीं हो सकता; इसका उपयोग मुझे इसी विषय में करना है। हम जिस सत्ता के विषय में विचार कर रहे हैं वह सत्ता किन्हीं ख़ास-ख़ास व्यक्तियों को नहीं दी जाती, बल्कि प्रत्येक बालिग़ मनुष्य को यह सत्ता प्राप्त होती है, और आश्चर्य की बात तो यह है कि अत्यन्त नीच राक्षस के समान मनुष्य भी इससे कोरा नहीं रहता। जो मनुष्य बाहरी बर्ताव से सच्चरित्र मालूम होता हो, या जिन पर उसका ज़ोर न हो उनसे बड़ी सभ्यता और मर्यादा से व्यवहार करता हो—तो केवल इस दिखावटी व्यवहार पर यह अनुमान बांधना भूल है कि वह अपने अधीन मनुष्यों पर भी वैसी ही सभ्यता से पेश आता होगा ; साधारण से साधारण मनुष्य अपनी तामसी, स्वार्थी और नीच मनोवृत्तियाँ अपने बराबर वालों के सामने भी प्रकट नहीं करते, किन्तु जिन पर उनका पूरा हक़ होता है और जिन में उसके ख़िलाफ़ पलट कर जवाब देने तक की ताक़त नहीं होती—उसी ही पर वे अपनी कुत्सित मनोवृत्तियाँ प्रकट करते हैं। यदि मनुष्य के दुर्गुणों का मूल और उसका उत्पत्ति-स्थान देखना है तो सेव्य-सेवक-सम्बन्ध को ही देखना चाहिए, मूल उत्पत्ति का स्थान इसी सम्बन्ध से है। जिस मनुष्य का व्यवहार अपनी बराबर वालों से भी कड़ा होता हो, तो वह अपने से नीची श्रेणी वाले मनुष्यों के सहवास में रहा हुआ होना चाहिए, और उन्हें धमका कर अपने दबाव में रखने वाला

होना चाहिए—यह निस्सन्देह है। लोग कहते है कि उत्तम कुटुम्ब, सहृदयता, सहानुभूति, पर-दुःख-कातरता आदि उत्तमोत्तम गुणों का सब से अच्छा स्थान घर है; यद्यपि अधिक अंशों में यह बात सत्य है, पर इसके साथ ही यह बात भी ध्यान में होनी चाहिए कि प्रत्येक कुटुम्ब में कुटुम्बी नेता के अन्तःकरण पर ही कुटुम्ब की रचना होती है। इस ही से गृहस्थाश्रम स्वार्थी, अन्यायी, दुराचारी, उद्धत, ज़ुल्मी आदि दुर्गुणों का पोषक होजाता है। उस में स्त्री और बच्चों के प्रति जो ममता के अंश होते है वे स्वार्थत्याग के अंश नहीं कहे जा सकते, बल्कि एक प्रकार से उनका सुख ही उसका लाभ है, क्योंकि उन्हें वह अपनी निजू चीज़ समझ कर पोषण करता है; और जब ज़रा इसके शारीरिक स्वार्थ पर आ बनती है तब स्त्री-बच्चों के सुख और स्वास्थ्य को बलि देने में वह ज़रा भी हानि नहीं समझता। जब तक वर्तमान वैवाहिक रूढि इस ही प्रकार चली जायगी तब तक इससे अच्छे परिणाम की आशा रखनी व्यर्थ है। हम ऊपर विवेचना कर आये है कि मनुष्य की दुष्ट प्रवृत्तियाँ आधीनता-पराधीनता से ही उत्पन्न होती है, यदि इन प्रवृत्तियों को अधिक स्वाधीनता न दी जाय तो वे किसी मर्यादा में रह सकती हैं। इस ही प्रकार जब किसी एक व्यक्ति को बहुत से मनुष्य सम्मान देने लगते हैं, तब उसको आदत हो जाती है कि वह उन सब को दबाता ही रहे—यह हम प्रति-दिन के अनुभव

में देखते हैं; यदि हम किसी मनुष्य से नम्र बन कर चलते हैं, तो पीछे इरादे-पूर्वक न हो तब भी उससे नम्र होकर चलने की आदत पड़ जाती है, वह आदत या प्रवृत्ति बढ़ कर हमारी स्वाधीनता पर अधिकार करती है और अन्त में उसके उद्धत व्यवहार के विरुद्ध होना पड़ता है, क्योंकि सहनशीलता की भी हद होती है। मनुष्य-स्वभाव की साधारण प्रवृत्ति ही इस प्रकार की है—और इस पर वर्तमान समय के समाज का संगठन इस प्रकार का है कि प्रत्येक मनुष्य को एक-एक मनुष्य पर अनियन्त्रित अधिकार चलाने का हक़ है—और मनुष्य भी वह जो निरन्तर उसके सहवास में रहे—प्रति समय उसकी नज़र के सामने रहे, इन सब का परिणाम यह होता है कि पुरुष के प्रकृतिरूपी मन्दिर के कोने-कोने में जो स्वार्थ के बीज छिपे छिपाये पड़े रहते हैं वे निकल पड़ते हैं; इस ही बात को यदि आलङ्कारिक भाषा में कहें तो यह कह सकते हैं कि स्वार्थ और दुष्टता की कजलाती हुई आग को यह दुष्ट सत्ता रूपी पवन फिर से प्रज्वलित करती है, शान्त आग को फिर दहका देती है। मनुष्य अपनी स्वाभाविक दुष्ट प्रवृत्तियों को अन्य मनुष्यों के सामने दाब रखता है और सदैव इस ही प्रकार करने से वे निःसत्त्व भी हो सकती हैं, पर उन दुष्ट प्रवृत्तियों को इस सत्ता का सहारा मिलने से उसे अधिकाधिक उत्तेजना मिलती है। इस प्रश्न का उत्तरार्द्ध और है, इसके विषय में भी मैं कहूँगा। मैं

मुझे स्वीकार करता हूँ कि पुरुषों का शासन करने से स्त्रियों का जो कुछ होना चाहिए वह अधिकार नहीं होता, पर अनेक प्रकार से अपना उद्धार निकालने की तरकीबें हैं। अवश्य स्त्रियों के हाथ में ऐसे भी साधन हैं कि यदि वे चाहें तो पुरुषों की ज़िन्दगी किरकिरी कर दें और केवल इस ही शक्ति पर वे बहुधा पुरुषों से फ़ायदा भी पा जाती हैं। बहुत बार वे ऐसे अनुचित लाभ भी उठा लेती हैं जो उन्हें न उठाने चाहिएँ। पर अपनी रक्षा के इस हथियार का प्रयोग केवल फूहड़, कर्कश और कुमार्गी ही करती है; और इस में यह मुख्य दोष है कि जो पुरुष सीधा-सादा और नरम स्वभाव वाला होता है उसही पर इस शस्त्र का प्रयोग सब से अधिक होता है; और इसका लाभ सबसे नीच स्त्रियां उठाती है। अधिकांश तामसी प्रकृति वाली और लड़ाकी स्त्रियां ही इस शस्त्र का विशेष उपयोग करती है; अर्थात् पुरुषो को जितने अधिकार दिये गये हैं, यदि इतने ही अधिकार स्त्रियों को भी दिये जायँ, तो जिन स्त्रियों के हाथ से इस सत्ता का सर्वथा दुरुपयोग होना सम्भव है—वे स्त्रियाँ ही ऐसे हथियार से पुरुषों की जीवनी बिगाड़ डालती हैं। सुशील और सहृदय स्त्रियाँ तो इस हथियार का उपयोग ही नहीं कर सकतीं, और जो विशाल-हृदय वाली तथा उच्च गुणों वाली स्त्रियाँ होती हैं वे तो ऐसे शस्त्र को तुच्छ समझती है। दूसरी ओर जिन पुरुषों के ऊपर इस शस्त्र का प्रयोग किया जाता है

वे विचारे सौम्य प्रकृति वाले और निरुपद्रवी होते हैं ; उन्हें यदि हद से ज़ियादा भी चिढ़ाया जाय तब भी वे अपने अधिकार का उपयोग कड़ाई से नहीं करते। स्त्रियों में जो पुरुषों को सताने का माद्दा होता है, उसका परिणाम यह होता है कि, एक ओर पुरुष जैसे स्त्रियों पर अत्याचार करता है, वैसे ही ऐसे घरों में स्त्रियाँ पुरुषों पर अत्याचार करती है। अधिकांश उन पुरुषों को ही स्त्रियों के अत्याचार सहने पड़ते हैं जो सर्वथा सीधी-सादी वृत्तिवाले होते हैं और कड़ाई करना जानते ही नहीं।

५—सत्ता के द्वारा मनुष्य को दूषित करने वाले जो परिणाम उत्पन्न होते हैं, उनकी संख्या इतनी अधिक होने पर भी व्यवहार में वे हमें क्यों नहीं दीखते ? दूसरे शब्दों में, पुरुष के हाथ में अनियन्त्रित सत्ता होने पर भी संसार में इतनी भलमनसाहत क्यों दीखती है ? यद्यपि स्त्रियों के हाव-भाव और बनाव आदि के सम्मोहक गुण कुछ व्यक्तियों के हृदयों पर विशेष असर करते हैं, फिर भी वर्तमान स्थिति के स्वरूप को एकदम बदल डालने की उन में शक्ति नहीं है, क्योंकि हाव-भाव कटाक्ष आदि की सत्ता तो तरुणाई तक ही होती है ; और बहुत बार तो यह सम्मोहकता वहीं तक टिकती है जब तक मोहकता ताज़ी होती है, और विशेष परिचय या अति निकट सम्बन्ध के कारण जब यह मोहकता नष्ट हो जाती है, तब उसकी सत्ता भी नहीं टिक सकती। और बहुत से

पुरुषों को तो स्त्रियों का लावण्य या सुन्दरता मोहित कर ही नहीं सकती। इसलिए अधिकार या नैसर्गिक सौम्यता नीचे लिखे कारणों से प्राप्त हो सकती है। एक तो दम्पति में समय के अनुसार एक दूसरे के प्रति बढ़ता हुआ प्रेम,—पर इसके लिए यह ज़रूरी है कि पुरुष का हृदय प्रेमाङ्कुर के विकाश के अनुकूल हो, और स्त्री की प्रकृति भी उस अंकुर के पोषण करने की आदत हो,—दूसरे सन्तान के सम्बन्ध में दम्पति का सामान्य हित, इस ही प्रकार अन्य दुखी मनुष्यों के सम्बन्ध में उनके हित का ऐक्य, तीसरे पुरुष के प्रतिदिन के सुख, उपभोग और स्वास्थ्य के लिए स्त्री की आवश्यकता तथा अपने स्वार्थ और सुखके लिए जो कुछ वह स्त्री की क़ीमत समझता हो वह (जो पुरुष सहृदय अन्तःकरण वाले है उन में तो इसके परिणाम स्वरूप शुद्ध प्रेम की उत्पत्ति होती है।) और सब से अन्तिम निरन्तर निकट सहवास के कारण मनुष्य-मनुष्य में जो स्वाभाविक सहानुभूति होती है वह, क्योंकि निरन्तर निकट रहनेवाले मनुष्य यदि अभाव पैदा करने वाले या तिरस्कार करने वाले न हो तो, वे स्वामी की सत्ता पर इतना अधिकार प्राप्त कर लेते हैं कि, बहुत बार हमें भी वह हद से ज़ियादा और अनुचित मालूम होने लगता है। यह परिणाम उस ही स्थिति में रुक सकता है जब स्वामी का हृदय कठोर हो। इन अनेक साधनों के द्वारा स्त्रियाँ पुरुषों पर अधिकार करती है, और अनेक बार

तो जिन बातों में पडने से उनका सर्व्वथा नुकसान होना सम्भव होता है, उन में भी वे अपनी ही मनमानी करा लेती हैं। बहुत बार स्त्रियों का प्रस्ताव नीति-विरुद्ध होता है—उस में बुद्धिमत्ता का लेश भी नहीं होता, यदि पुरुष उन बातों को अपने ही विचार से करें तो लाभ होना अधिक सम्भव भी होता है, ऐसा होने पर भी उन्हें स्त्रियों की सलाह के अनुसार चलना पडता है। किन्तु राजनैतिक बातों के अनुसार कुटुम्ब-सञ्चालन में भी सत्ता का लाभ इस स्वाधीनता की हानि का बदला नहीं है। स्वाधीनता खोने से जो हानि होती है वह सत्ता प्राप्त होने से पूरी नहीं हो सकती। यह सत्य है कि पुरुष को अपने अधिकार में करके स्त्री उन बातों पर भी अपना हक़ जमा लेती है जिन पर उसका हाथ पहुँच ही नहीं सकता—पर इससे अपने सच्चे हक़ स्थापित करने की सामर्थ्य उसमें नहीं आती। सुलतान के ज़नाने में जो बड़ी दासी होती है, उसके नीचे और बहुत सी दासियाँ होती हैं और उन पर वह अत्याचार भी करती है—पर सचमुच क्या उसकी स्थिति पसन्द करने लायक़ है। इच्छित स्थिति तो यह है कि उसे दूसरे की दासी होना ही न चाहिए, उस ही प्रकार अन्य दासियों पर अधिकार भी न भोगना चाहिए। यदि कोई स्त्री पति के अस्तित्व में अपना अस्तित्व सम्पूर्ण रीति से मिला देवे, जिन बातों में दोनों का समान लाभ हो उनमें अपनी इच्छा को प्रधान न रख कर पति की इच्छा को

ही प्रधान रक्खे और अपना मत भी वैसा ही जतावे, यदि कुछ नहीं तो पति के सामने ऐसा ढोंग ही बनाले मानों पति की इच्छा से भिन्न उसकी कोई स्वतन्त्र इच्छा है ही नहीं; और पति की मनोवृत्तियों पर अपना अधिकार रखने में तथा अपने मनचाहे ढंग से उन्हें झुकाने में ही अपने जीवन की कृतकृत्यता माने, इस प्रकार का आचरण रखने से एक प्रकार उस स्त्री को सन्तोष का कारण मिलेगा, और वह इस प्रकार का होगा कि, जिन सांसारिक व्यवहारों की योग्यता या अनुभव उसने बिल्कुल नहीं प्राप्त किया और जिन विषयों में वह कोई सम्मति देने योग्य नहीं है, इस-लिए उन-उन कामों में वह निष्पक्ष लाभ की सम्मति न देकर पक्षपात, दुराग्रह आदि बाह्य कारणों से खोटी सम्मति ही दे सकती है, उन में भी अपनी सम्मति को ही प्रधान रखवा कर वह पति को उस ग़लत रास्ते पर चला देगी— यही उसकी सत्ता होगी—यही उसके लिए सन्तोष का कारण होगा। किन्तु इसका परिणाम हानिकारक होता है; जो सीधे स्वभाव वाला पुरुष अपनी स्त्री से अत्यधिक ममता रखता है, स्त्री उसे बहुत कुछ अपनी मनशा के अनु-सार चलाती है, और कुटुम्ब से बाहर वाले व्यवहारों में स्त्री की सलाह के अनुसार चलते हुए उसे बहुत कुछ हानि उठानी पड़ती है। क्योंकि इस समय की प्रथा के अनुसार स्त्रियों को बचपन से ही यह शिक्षा दी जाती है कि

घर के काम-काजों को छोड़ कर बाहर के व्यवहारों में मन लगाना या सोचना स्त्री-जाति का काम ही नहीं है। इस-लिए ऐसी बातों का विचार वे तभी करती हैं जब या तो उनके सिर उसकी जवाबदिही हो या उनका कोई ख़ास स्वार्थ हो। राजनैतिक बातों में उन्हें यह ख़बर ही नहीं होती कि सच्चा पक्ष कौन सा है और झूठा कौन सा है; पर अपने घर में धन या प्रतिष्ठा किस प्रकार होगी, अपने पति को कोई बड़ी पदवी किस प्रकार मिलेगी, अपने पुत्रों को अच्छे पद किस प्रकार मिलेंगे, या अपनी कन्याको अच्छा पति किस प्रकार मिलेगा— इन सब बातों का उन्हें पूरा ख़याल होता है।

६—इस स्थल पर शायद यह प्रश्न उठेगा कि, एक मनुष्य के हाथ में नियामक और निर्णायक सत्ता आये बिना समाज की गाड़ी किस प्रकार चल सकती है? राज्य के समान कुटुम्ब को चलाने वाला एक अधिकारी या सत्ताधीश होना ही चाहिए; क्योंकि यदि ऐसा न होगा तो एक बात में मान लो कि मालिक और मालकिन में मतभेद हो गया; ऐसी स्थिति में उनका निर्णय कौन करेगा? कोई काम दोनों की मन्शा के मुताबिक़ तो हो ही नहीं सकता; चाहे जैसा हो उसका निर्णय करना ही होगा। ऐसी दशा में बड़ी गड़बड़ होगी। इस शंका का समाधान नीचे के अनुसार है।

७—जिन मनुष्यों का यह कहना है कि जिन दो मनुष्यों ने प्रसन्नता से अपना सम्बन्ध स्थिर किया है, उन में एक का

उच्च रहना आवश्यक है, उनका कथन यथार्थ नहीं है; इस ही प्रकार यह सिद्धान्त भी ग्राह्य नहीं हो सकता कि कानून के अनुसार यह स्थिर किया जाय कि उन दोनों में किसे उच्च पद दिया जाय। दो मनुष्यों के प्रसन्नता से बाँधे हुए सम्बन्ध का उदाहरण विवाह-सम्बन्ध है। इस ही प्रकार के दूसरे उदाहरण उद्योग-धन्धे और व्यापार के सम्बन्ध में हैं। जो कई मनुष्य बराबर का हिस्सा लेकर किसी व्यापार को करना शुरू करते हैं, उनमें इस प्रकार का नियम बनाने की कभी ज़रूरत नहीं पड़ती कि सब अधिकार एक हिस्सेदार के हाथ में रहेंगे और बाकी हिस्सेदार उसके ताबे में रह कर केवल आज्ञापालन करेंगे। क्योंकि कोई हिस्सेदार इस बात को मञ्जूर करेगा नहीं कि उसके सिर जवाबदारी तो मालिक-पन की हो और अधिकार केवल गुमाश्तगीरी के हों। वैवा-हिक सम्बन्ध के विषय में कायदा जिस तरीके पर चलता है, यदि वही तरीका अन्य सम्बन्धों में भी माना या प्रचलित किया जाय तो, उसका स्वरूप इस प्रकार हो कि, दूकान का तमाम कारोबार और उस से सम्बन्ध रखने वाले तमाम हक केवल एक आदमी के हाथ में सौंप दिये जायँ, और उसे तमाम काम अपने घरू स्वाधीन कामों के अनुसार करने चाहिएँ, और बाकी के हिस्सेदारों को उतने ही पर खुश रहना चाहिए जितने वह अपने आप उन्हें दे। और जो भागीदारों का एक सर्वस्व या सत्ताधीश बनाया जाय, वह

किसी साधारण नियम के अनुसार होना चाहिए—जैसे उदाहरण के तौर पर, जो उमर में सब से अधिक हो वही सत्ताधीश बनाया जाय। पर क़ायदे-क़ानून से इस प्रकार का निर्णय कभी नहीं किया जाता; क़ायदे की दृष्टि में इस प्रकार के नियम बनाने की आवश्यकता ही सिद्ध नहीं हुई कि, अमुक नियम के अनुसार हिस्सेदारों के हक़ कम या ज़ियादा होने चाहिएँ, या हिस्सेदार आपस में अपने व्यवहार का जो नियम निश्चित करें उनके अनुसार उन्हें न चलने देकर अमुक प्रकार से उन्हें चलाना चाहिए। अनुभव के द्वारा ऐसे नियम की आवश्यकता ही सिद्ध नहीं हुई। किन्तु यह तो स्पष्ट ही है कि विवाह-सम्बन्ध में एक हिस्सेदार को तमाम हक़ सौंप दिये जाते हैं, यदि किसी कोठी के हिस्सेदारों में भी एक को सब सत्ता सौंपने का नियम हो, तो जिन हिस्सेदारों को सत्ताधीश के नीचे रहना पड़ता और उनका जितना नुक़सान होता, उसकी अपेक्षा भी इस सम्बन्ध में अधिक नुक़सान होता है—क्योंकि प्रत्येक हिस्सेदार इस बात में तो स्वाधीन होगा कि जब वह चाहे तब अपना सम्बन्ध न्यारा कर ले। किन्तु स्त्री को इस प्रकार का कोई हक नहीं होता, और यदि कोई हक़ हो भी तो, तो पहले उस हक का उपयोग करके देखे, यह और भी ध्यान देने योग्य है।

८—यह तो सत्य है कि जिन बातों का निर्णय रोज़ का रोज़ करना पड़ता है, और जो व्यवस्था निर्णय के लिए क्रम

नहीं सकती, या जिन में स्वाधीनता-पूर्वक काम लेने की आवश्यकता ही है वे निर्णय तक नहीं रोकी जा सकतीं, इनके लिए आवश्यक है कि ये एक ही मनुष्य की इच्छा के अनुसार होने चाहिएँ। पर इससे यह सिद्धान्त नहीं निकल सकता कि यह मुख़्तारगीरी सदा सब बातों में एक ही आदमी के हाथ रहनी चाहिए। यदि स्वाभाविक व्यवस्था की ओर देखेंगे तो दोनों के अधिकार सत्ता तक पहुँचते रहने चाहिएँ। प्रत्येक को जो-जो काम सौंपा जाय उस में वह पूर्ण स्वाधीन होना चाहिए; किन्तु उस काम करने की पद्धति या व्यवस्था में कुछ लौट-फेर करना हो तो उसमें दोनों की सलाह होनी चाहिए। प्रत्येक कार्य के स्वामित्व आदि का निश्चय क़ायदे-क़ानून के द्वारा नहीं हो सकता, बल्कि इसका आधार प्रत्येक व्यक्ति की योग्यता और अनुकूलता पर है। यदि दोनों की इच्छा हो तो जिस प्रकार विवाह-सम्बन्ध से पहले रुपये पैसे की सब बातें निश्चित हो जाती हैं उस ही प्रकार प्रत्येक के करने योग्य कामों की व्यवस्था भी पहले ही से निश्चित कर डाली जाय —यह हो भी सकता है। साधारण तौर पर यह नहीं हो सकता कि दोनों को इस प्रकार के निश्चय करने में अमित कठिनाइयाँ हों। किन्तु यदि पुरुष और स्त्री में पहले से ही विषमता होगी तो और बातों में जैसे लड़ाई-झगड़ा बना रहेगा, उस ही प्रकार इस विषय में भी रहेगा। जहाँ ऊपर लिखे अनुसार एक बार उनके

काम और कर्त्तव्य निश्चित हो जायँगे, तब परस्पर के अधिकार भी दोनों की सलाह से सरलता-पूर्व्वक निश्चित हो सकेंगे, किन्तु क़ानून के अनुसार कभी अधिकार निश्चित न होने चाहिएँ। विशेष करके यह व्यवस्था प्रचलित लोक-रूढ़ि के अनुसार ही हो जायगी, और जब उस में आवश्यक परि-वर्त्तन करने की ज़रूरत होगी तब दोनों सोच-विचार कर फेरफार कर लेंगे।

८—क़ायदा दो में से चाहे जिसे सत्ताधीश बनावे, किन्तु यह तो प्रत्यक्ष है कि काम-काज का निर्णय विशेष करके बुद्धिमत्ता के आधार पर ही होता है। विशेष करके पुरुष के स्त्री से उमर में बड़ा होने के कारण, उसकी सम्मति पर ही अधिक दबाव होता है; और कम से कम यह प्रकार उस समय तक तो चले होगा जब तक स्त्री-पुरुष समान आयु वाले और समान बुद्धि-सम्पन्न न होंगे। दूसरे, स्त्री-पुरुषों में जो प्रत्यक्ष आत्मरक्षा यानी जीविका का उपार्जन करेगा उस की सम्मति स्वयं अधिक मान्य होगी; इसलिए स्त्री-पुरुषों में जो असमानता देखी जाती है उसका कारण वैवाहिक सम्बन्ध नहीं होता, बल्कि मनुष्य-जाति की साधारण स्थिति है। इस ही प्रकार बुद्धिविषयक विशेषत: (फिर चाहे वह साधा-रण हो या विशेष) मन की स्थिरता, स्वभाव की उदारता आदि गुणों के कारण एक पक्ष जो उच्चता भोगता है, वह भोगेहोगा। इस समय भी यही दशा है। व्यापार-धन्धे

करने वाले हिस्सेदार जिस प्रकार जवाबदारी के अनुसार विचार कर प्रत्येक के हक़ क़ायम कर लेते हैं, उस ही प्रकार स्त्री-पुरुष जो आजन्म सांसारिक व्यवहारों के हिस्सेदार बनते हैं वे हिस्सेदार व्यापारियों की तरह अपने लिए नियम निश्चित कर सकते हैं। इस विषय में जिनका यह ख़याल है कि स्त्री पुरुष व्यापारियों की तरह नियम निश्चित नहीं कर सकते, उनका मतलब कितना नापायदार है, यह ऊपर की बातों से भली भाँति ज्ञात होगा। उन स्त्री-पुरुषों की बात जाने दीजिये जिन्हें विवाह करके पछताना पड़ा हो, किन्तु बाक़ी के सब स्त्री-पुरुष ऐसी ही व्यवस्था करते हैं। जिन स्त्री-पुरुषों ने विवाह-सबंध में गहरी भूल नहीं की, जिनका सम्बन्ध टूटने ही में विशेष आनन्द न हो, उन्हें छोड़ कर और बाकी स्त्री-पुरुषों के सम्बन्ध देखेंगे तो ऐसा कभी नहीं दीखेगा कि एक ओर तो केवल सत्ताधीशता हो और वैसे ही दूसरी ओर केवल आज्ञापालन हो। इस स्थल पर कदाचित् यह प्रश्न उठाया जायगा कि स्त्री-पुरुषों में मत-भेद होकर पीछे से जो समाधान होता है, उसका कारण यह है कि स्त्री के मन में यह बात बैठी रहने के कारण कि पुरुषों को कानूनन हक़ है और उसके बल पर वह अपनी बात ऊँची रख सकता है, इसीलिए उसे नम्र बन कर अन्त में पुरुष की बात प्रधान रखने के लिये लाचार होना पड़ता है। उदाहरण के तौर पर जो लोग पञ्चों के द्वारा अपने झगड़ों का

फ़ैसला कराते हैं. वे यह समझते हैं कि ऐसा न करने से मामला कचहरी में पहुँचेगा, और वहाँ पहुँचने पर न्यायाधीश की आज्ञा माननी ही पड़ेगी—इसलिए आपस में फ़ैसला कर लेना ही अच्छा है। किन्तु इन दोनों उदाहरणों में विशेष सादृश्य नहीं है। यदि कचहरी का फ़ैसला निष्पक्ष न होकर, सदैव एक पक्ष में रहा करे—मान लो कि प्रतिवादी के लाभ में ही सदैव न्याय दिया करे, उस दशा में दोनों उदाहरण समान हो सकते हैं। यदि कचहरी में सदैव प्रतिवादी के लाभ में ही फ़ैसला हुआ करे, तो सचमुच वादी के मन में यही बात पैदा हो कि कचहरी में जाने की अपेक्षा चार भले आदमियों में निपटारा हो जाना ही अच्छा है और केवल उन्हीं के फ़ैसले पर वह सन्तोष भी मान ले। यदि ऐसा ही हो तो प्रतिवादी को फ़ैसले की ग़रज़ ही क्या हो? इस ही प्रकार क़ानून के अनुसार पुरुषों को अनियन्त्रित अधिकार होने ही के कारण, यदि स्त्री अपना दुराग्रह छोड़ दे तो यह हो भी सकता है। क्योंकि वह मन ही मन समझ सकती है कि कचहरी में पुकारने से कोई लाभ न होगा, इसलिये घर में ही जितने अधिकार वह ले सकती हो उतने ले लेवे। पर बहुत बार जो पुरुष स्त्री की इच्छा को प्रधान रखता है, उसका तो यह कारण हो ही नहीं सकता, क्योंकि उसे क़ानून या कचहरी का डर तो होता ही नहीं। क़ानून या लोकाचार स्त्री-पुरुष के लिए उनमें से एक ही का बन्धन नहीं

बनता, फिर हम यह भी देखते हैं कि जो मनुष्य सभ्य, विवेकी और उत्कृष्ट प्रकृति वाले होते हैं उनके प्रत्येक व्यवहार में विवेक की छाया होती है, और स्त्री-पुरुषों के पारस्परिक अधिकारों में इसी प्रकार समाधान होता है। इस से यह सिद्ध होता है कि जब दो मनुष्यों का जीवन एकत्र होता है, तब वे समझ-बूझ कर अपने सब व्यवहारों में एक दूसरे को सन्तुष्ट रखने की कोशिश में रहते हैं; उन में ऐसी प्रेरणा कराने वाले कारण स्वाभाविक होते हैं। क़ानून ने जो सत्ता एक के हाथ में दे रक्खी है उसका उपयोग व्यवहार में नहीं होता देखा जाता। फिर क़ायदे के अनुसार गृहस्थी की दीवार एक पक्ष को सम्पूर्ण अधिकार देकर और दूसरे पक्ष को निर्बल बना कर खड़ी करने का मतलब समझ में नहीं आता। ऐसी स्थिति में व्यावहारिक रीति से इस बात का कोई कारण नहीं दिखाई देता कि क़ानून जो-जो मन में चाहे सो अधिकार देवे और जब मन में आवे तब छीन लेवे—ऐसे क़ायदे का कुछ अर्थ भी नहीं है। इसके अलावा यह भी मामूली पर गहरी बात है कि, ऐसे अनिश्चित नियमों पर दी हुई स्वाधीनता बहुमूल्य भी नहीं हो सकती। क़ायदा तराज़ू के एक पलड़े में ज़ियादा बोझा डालता है, इसलिए ऐसे नियमों का यथान्याय होना कभी सम्भव नहीं। जिस क़ानून के द्वारा दो मनुष्यों में से एक को सम्पूर्ण अधिकार दे दिये जाते हों, और दूसरे को केवल अधिकारी की इच्छा

पर ही छोड़ दिया जाता हो, साथ ही धर्म और नीति के ऐसे ज़बर्दस्त बन्धन उसके गले में बाँध दिये जाते हों कि अधिकारी उस पर चाहे जितना अत्याचार करे फिर भी वह उसके सामने नज़र न उठावे—क़ानून की ऐसी आज्ञा होने पर भी यदि वे दोनों व्यक्ति मिल-जुल कर सब बातों में स्नेह-ममता से काम करते हों, तो ऐसी स्थिति में उनके सम्बन्ध और व्यवहार को यथान्याय या क़ानून के अनुसार नहीं कह सकते।

१०—इस अवसर पर कोई दुराग्रही प्रतिपक्षी यह कहेगा कि पुरुष तो विचारे सीधेसादे होते हैं, और वे अपनी स्त्री के योग्य अधिकारों को स्वीकार कर लेते हैं, उनसे उदार व्यवहार करने को सदा तैयार रहते हैं, तथा इस बात में उन्हें उनका कर्त्तव्य बताने की आवश्यकता ही नहीं होती; किन्तु स्त्रियाँ ही हठीली और ना-समझ होती हैं। यदि स्त्रियों को थोड़ी सी भी और स्वाधीनता दे दी जाय; और यदि पुरुष अपने अधिकार से सदा उन्हें दबाते न रहें तो, स्त्रियाँ उनके प्रति ज़रा भी नम्रता न दिखावें। यह प्रतिपादन करने की रीति ऐसी है जो अब से सौ वर्ष पहले के मनुष्यों को शोभा दे सकती थी, क्योंकि उस समय हर एक तरह से, उठते-बैठते खाते-पीते स्त्रियों की अवमानना करने की आदत ही होगई थी। अपने आप पुरुषों ने स्त्रियों की जो दशा बना डाली थी, उसके हँसने योग्य उदाहरण देकर, उनकी निन्दा और भर्त्सना करके ही उस समय के मनुष्य

प्रसन्न होते थे। पर इस समय कोई नम्र या प्रतिष्ठित मनुष्य इस तरह के आक्षेप करने को तैयार भी न होगा। इस समय के सुशिक्षित पुरुषों की यह धारणा नहीं है कि जिन पुरुषों के साथ स्त्रियों का अति निकट सम्बन्ध रहता है उनके प्रति ममता और सद्भाव में वे पुरुषों से पीछे रहती हैं। बल्कि आज-कल तो हमारे सुनने में यह आता है कि पुरुषों से स्त्रियाँ अच्छी हैं। पर आश्चर्य की बात है कि जो लोग स्त्रियों के अच्छेपन की डौंडी पीटते फिरते हैं, यदि उनसे कहा जाय कि तुम स्त्रियो को पुरुषों से अच्छी बताते हो इसलिए उनके साथ वैसा ही बर्ताव भी करो तो उन्हें यह बात पसन्द ही नहीं आती॥ ऐसे मनुष्यों के मुँह से निकले हुए शब्दों की क़ीमत केवल दाम्भिक बात की ही रहती है, उन मनोहर शब्दो का उद्देश केवल इतना ही होता है कि अपने किये हुए अत्याचार को सुन्दर वेष में खड़ा कर देना। गुलिवर (Gulliver) का वर्णन किया हुआ लिलिपट (Lilliput) देश का राजा अपने अपराधी को कठोर से कठोर दण्ड देने से पहले दया के शब्दों से भरे हुए व्याख्यान की रेल-पेल कर दिया करता था—ऊपर वाला वर्णन भी ऐसा ही है। पुरुषों की अपेक्षा यदि स्त्रियाँ किन्हीं बातों में सब से अधिक अच्छी हैं तो वह गृह-व्यवस्था है। विलक्षण आत्मनिग्रह के साथ वे अपने कुटुम्बियों को प्रत्येक प्रकार से सुखी रखने के साधन जुटाती है। पर इस बात को मैं कभी महत्त्व दूँगा ही नहीं,

क्योंकि पुरुषों ने स्त्रियों को ऐसी समझ बना डाली है कि,—“स्त्रियों का जन्म तो दूसरों के लिए है, स्त्रियाँ केवल दुःख सहकर दूसरों को सुखी करनेही के लिए है।” मेरा सिद्धान्त यह है कि, संसार के तमाम कारोबार जब स्त्री-पुरुषों के अधिकार समान मान कर चलने लगेंगे, तब स्त्रियों को उदात्त कल्पना को जो आत्मसंयम और अपने सुखों के दुर्लक्ष्य का पक्का सबक़ सिखाया गया है वह विशेष करके नष्ट हो जायगा, और उस दशा में अच्छी से अच्छी स्त्री एवं अच्छे पुरुष से अधिक आत्मसंयम और परार्थी नहीं होगी। उस दशा में पुरुष अब से अधिक निस्स्वार्थी और संयमी होंगे; क्योंकि पुरुषों को आज तक जो ऐसी सीख मिलती रही है कि,—“हमारी इच्छा ऐसी बलवान् चीज़ है कि अन्य मनुष्य-प्राणियों (स्त्रियों) को उसे क़ानून कह कर सिर पर चढ़ाये हुए चलना पड़ता है,” यह बन्द हो जायगी। पुरुष के मन में बड़ी सरलता से यह बात घुस बैठती है कि, “मैं सब का पूज्य हूँ, सब से होशियार हूँ।” आज तक जिन-जिन को विशेष अधिकार प्राप्त हुए हैं, जो-जो जातियाँ विजयी बनी है—उन सब को यही शिक्षा मिली होती है। हमारी दृष्टि जैसे-जैसे नीची श्रेणी वालों पर पहुँचती जाती है, वैसे ही वैसे यह भावना और भी अधिक स्पष्ट होती जाती है, और विशेष करके जिस पुरुष को अपनी अभागिनी स्त्री और बच्चों को छोड़ कर और कोई हुकूमत करने के लिए नहीं मिलता, या जिन्हें कभी दूसरों पर हुकूमत करने

का मौक़ा मिलना ही सम्भव नहीं—इन मनुष्यों में यह दोष सब से अधिक देखा जाता है। ऐसे मनुष्य बहुत मिलेंगे जो अन्यान्य दोषों से मुक्त हों; किन्तु ऐसे मनुष्य तो कोई कहीं ही होंगे जो इस दोष से मुक्त हों। धर्म्मज्ञान और तत्त्वज्ञान भी मनुष्य को इस दोष से नहीं बचा सकते, बल्कि उनकी पद्धति उलटा इस दोष को बचाती है—इसकी रक्षा करती है। धर्म्मशास्त्र का जो इस प्रकार का मुख्य तत्त्व है कि सब मनुष्य-प्राणी समान हैं (वसुधैवकुटुम्बकम्), इसी के कारण इस दुष्प्रवृत्ति पर कुछ अङ्कुश है। किन्तु जब तक एक मनुष्य दूसरे से अधिक समझा जायगा, एक दूसरे पर अधिकार करता जायगा, इस सिद्धान्त पर स्थापित की हुई रूढ़ियाँ प्रचलित रहेंगी, और प्रचलित बातों के विरुद्ध धर्म्माचार्य्य इस तत्त्व का उपदेश न करेंगे, तब तक लोगों का बर्त्ताव समान नहीं होगा।

११—निस्सन्देह ऐसी भी स्त्रियाँ होती हैं कि, यदि उन्हें पुरुषों के समान अधिकार भी दे दिये जायँ और उनसे समानता का व्यवहार भी किया जाय तब भी उन्हें सन्तोष नहीं होता। जैसे सब व्यवहार मेरी ही इच्छा के अनुसार होने चाहिएँ, इस बात के मानने वाले पुरुषों की संख्या सब से अधिक होती है, वैसे ही ऐसे स्वभाव वाली स्त्रियाँ भी अधिक होती हैं। अपनी बात प्रधान रक्खे बिना उन्हें रोटी नहीं हज़म होती। ऐसे मनुष्यों के लिए ही विवाह-बन्धन तोड़ने

या तलाक़ के क़ायदे बनाये जाते हैं। वे मनुष्य अकेले रहने के लिए ही पैदा होते हैं, इसलिए किसी को उनके साथ अपनी जीवनी बाँधने की आवश्यकता नहीं है। पर इस समय क़ायदे के अनुसार जैसी स्त्रियों की पराधीनता जारी है, यह जब तक न मिटेगी तब तक ऐसे स्वभाव वाली स्त्रियों की संख्या भी न घटेगी, बल्कि उत्तरोत्तर बढ़ती ही जायगी। यदि पुरुष अपने अधिकार का पूरा उपयोग करे तो निस्सन्देह स्त्रियों की दुर्दशा ही हो; पर उसके साथ जो मोह-माया स्त्रियों को जताई जाती है, यदि अधिकार प्राप्त करने का दरवाज़ा भी वैसा ही ढीला हो जाय तो स्त्रियाँ उन पर कितना स्वत्व कर लेंगी सो कोई नहीं कह सकता। इस समय के क़ानून ने स्त्रियों के अधिकारों की कोई मर्य्यादा निश्चित नहीं की, पर उसका माध्यम यही है कि उन्हें किसी प्रकार के अधिकार हैं ही नहीं; इसलिए व्यवहार में इनकी ऐसी दशा हो जाती है कि ये जितने अधिकारों पर क़ब्ज़ा कर सकें उतने ही इनके हैं। उन्हीं अधिकारों को वे भोग सकती है।

१२—सब से बढ़ कर सुख का मार्ग और न्याय के मूल पर स्थापित किया हुआ सङ्गठन यही हो सकता है कि क़ानून की दृष्टि में स्त्री और पुरुष दोनों के हक़ बराबर गिने जायँ, यह दैनिक व्यवहार और दैनिक जीवन में नैतिक शिक्षा का स्वरूप प्राप्त करावेगी—इसके सिवाय और कोई साधन नहीं।

समान अधिकार वालों का बरताव ही नैतिक शिक्षा की मुख्य शाला है। यद्यपि यह तत्त्व कई पीढ़ियों तक लोगों के दिलों में नहीं घुसेगा, सर्वमान्य नहीं होगा, फिर भी इसकी सचाई में किसी प्रकार का अन्देशा नहीं है। मनुष्य-जाति की नैतिक शिक्षा आज तक "लाठी उसकी भैंस" वाले नियम पर बनाई गई है और ऐसे नियमों पर बनाई हुई प्रथा का यही सब से अच्छा उपाय है। लोग अपनी बराबर वाले से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखते, क्योंकि उन समाजों में बराबर का होना ही शत्रु या प्रतिस्पर्धी होने के समान है। समाज का सङ्गठन ऊपर लटकती हुई साङ्कल के समान है, प्रत्येक व्यक्ति अपने एक पड़ोसी से ऊपर और दूसरे से नीचा है। एक मनुष्य पर वह खुद हुकूमत करता है और दूसरा उस पर हुकूमत करता है। इसलिए वर्त्तमान नीति सेव्य-सेवक-भाव लिए हुए है। दुर्भाग्य से आज्ञा देनी और आज्ञा पालन करनी, ये दोनों बातें आवश्यक हो गई हैं, पर सचमुच मनुष्य-जीवन की यह उत्कृष्ट स्थिति नहीं। मनुष्य-जाति की वास्तविक स्थिति समानता या बराबरी की है। वर्त्तमान समय के सुधार की धारा जैसे-जैसे आगे बढ़ती जाती है, वैसे ही वैसे सेव्य-सेवक-भाव का सङ्गठन ढीला पड़ता जाता है, और सब कहीं समानता के अधिकारों का विकाश होता जाता है। पुराने ज़माने की लोक-नीति इस प्रकार की थी कि, उस समय सत्ता को सम्मान देकर चलना प्रत्येक का कर्त्तव्य

समझा जाता था। उससे पीछे जो ज़माना संसार से गुज़रा उस में सबलों को निर्बलों की रक्षा का सङ्गठन हुआ और सबलों के प्रति निर्बलों को सब प्रकार से सन्तुष्ट रहने का पाठ पढ़ाया गया—इस ही सङ्गठन पर नीति की रचना हुई। किन्तु जो नीति एक ख़ास समाज के अनुरूप बनाई गई हो, वह नीति भिन्न तत्त्वों पर सङ्गठित किये गये समाज में मान्य क्यों होनी चाहिए? पराधीनता के तत्त्वों पर बनाई हुई नीति हमने बहुत दिनों तक चलने दी है; उसके बाद पराक्रम, औदार्य्य आदि उदात्त गुणों पर स्थापित की हुई नीति का अनुभव भी हम अनुभव कर चुके हैं; और यह वर्त्तमान समय न्याय की नींव पर नीति रचने का समय है। यह मानना चाहिए कि, प्राचीन काल में जिस-जिस समय समाज-सङ्गठन में समानता का तत्त्व मिलाया जाता था, उस-उस समय से न्याय-देवता नीति-मन्दिर में अपना अधिकार करते थे। प्राचीन काल के स्वाधीन प्रजासत्ताक राज्यों में यही होता था। किन्तु सब से अच्छे प्रजासत्तात्मक राज्य में भी समानता के तत्त्व का अनुसरण सब मनुष्यों के व्यवहार में नहीं होता था। केवल पुरुष-वर्ग वाले पुरवासी उसका लाभ उठाते थे। ग़ुलाम, स्त्रियाँ और जिन विदेशियों को नगर-निवासी-पन का अधिकार न होता था उन सबके साथ वही शक्ति वाला अत्याचारी नियम काम में लाया जाता था। पीछे रोमन लोगों के उदाहरण और ईसाई धर्म्म की

शिक्षा के प्रचार से ऐसे भेद मिटते गये और यह सिद्धान्त सर्व्वमान्य हुआ कि जाति या कौम के अनुसार सामाजिक भेद न माना जाकर सब मनुष्यमात्र समान माने जायँ। जिस समय ऐसे-ऐसे भेद मिटने लगे थे उस समय उत्तर देश वाले लोगों ने सब देशों को जीत कर अपने अधिकार में कर लिया, और अपना राज्य दृढ बनाये रखने के लिए उन्होंने फिर से उस व्यवस्था को ज़िन्दा किया। एक प्रकार से अर्व्वाचीन इतिहास इस भेद को धीरे-धीरे, किन्तु नियमित शक्ति से, दूर हटाने का इतिहास है। इसके बाद जिस ज़माने का प्रादुर्भाव होना है, उस में न्याय को सब अच्छे गुणों से पहला स्थान मिलेगा, और यह न्याय की नींव पहले के समान समता के तत्त्व पर रहेगी, तथा सहानुभूति का गुण भी इसका सहकारी होगा। जैसे पहले लोग स्व-संरक्षण के लिए ही एक दूसरे से समानता का व्यवहार करते थे, वैसे अब न होगा, बल्कि सब एक दूसरे के साथ दया और प्रेम उत्पन्न होगा; इस अवसर पर संसार का कोई मनुष्य भिन्न न रह सकेगा, बल्कि सब के साथ समान व्यवहार होगा। आने वाले ज़माने में लोगों का व्यवहार-क्रम कैसा परिवर्त्तित होगा इसका अनुमान अभी लोग कर भी नहीं सकते, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। लोगों के विचार और मनोभाव भूतकाल के अनुसार होते है, तथा आगे आने वाले समय के अनुसार कभी नहीं हुआ करते—और साधारण तौर पर लोगो को इसका

ख़याल भी नहीं होता। यह भी कोई आश्चर्य की बात नहीं है। मनुष्य-जाति की भावी स्थिति जान लेना सब मनुष्यों का काम नहीं है, ऐसे संसार के थोड़े से बुद्धिसम्पन्न मनुष्य ही जान पाते हैं। जो पुरुष इन भावी स्थितियों का विचार और मनोभावों का प्रत्यक्ष अनुभव करे, ऐसा तो संसार में कोई कहीं ही होता है; और विशेष करके उस पुरुष को लोगों का अत्याचार सहना पड़ता है। नये ज़माने के शुरू हो चुकने पर भी रूढ़ियों, आचार-विचारों, पुस्तकों और शालाओं के द्वारा मनुष्यों को पुराने विचारों की ही शिक्षा मिलती रहती है। फिर जिस समय नया ज़माना शुरू ही न हुआ हो उस समय तो पुराने आचार-विचारों की युक्त शिक्षा लोगों को मिलती है—यह स्पष्ट है। किन्तु मनुष्य-जाति का सच्चा गुण यही है कि एक दूसरे के साथ सहानुभूति का व्यवहार करके समानता को उच्च स्थान दिया जाय। दूसरे मनुष्य को हम जितना सम्मान देते हैं उस से अधिक सम्मान ख़ुद अपने लिए मत चाहो। किसी ख़ास प्रसङ्ग को छोड़ कर किसी मनुष्य पर हुकूमत करने की इच्छा मत रक्खो, और वह इच्छा भी उस प्रसङ्ग को पूरा करने के लिए हो; जहाँ तक हो सहवास के लिए ऐसे आदमी चुनो जो सलाह भी दे सकते हों और दूसरे मौक़े पर जिन्हें सलाह देने की भी ज़रूरत हो; इस प्रकार प्रसङ्ग के अनुसार दोनों को गुरु शिष्य होने का अवसर मिलना आवश्यक है। इस

प्रकार की योग्यता सम्पादन करने ही में सद्गुणों का विकाश है। वर्त्तमान समय के मनुष्य-समाज में इन गुणों के विकाश होने और बढ़ने के साधन बहुत ही कम हैं। वर्त्तमान समय का गृहस्थाश्रम अनियन्त्रित धारा की मुख्य पाठशाला है, और स्वाधीनता के सद्गुण सत्ता के दुर्गुणों के साथ घिसटते फिरते हैं। स्वाधीन देशों में नागरिक के अधिकार समानता के तत्त्व पर रचे गये समाज-बन्धन के अनुभव के नमूने है, पर अभी तक स्वाधीन नागरिक-जीवनी बहुत कुछ इधर-उधर टकराती है, क्योंकि इस समय के दैनिक व्यवहार का उनके हृदयों पर जो असर होता है, उससे स्वाधीन नागरिकता का विकाश रुकता है।

यह निर्विवाद है कि यदि कुटुम्ब का सङ्गठन आदर्श ढँग पर हो जाय तो गृहस्थाश्रम स्वाधीनता के सब अच्छे गुणों की खान बन जाय; तथा अन्य आवश्यक सद्गुणों की शिक्षा भी वहीं से प्राप्त की जा सकती है। कुटुम्ब रूपी पाठशाला में बच्चों को माता-पिता की आज्ञा में रहना और माता-पिता को अपनी सन्तान आज्ञाकारी बनाना आदि विषयों की शिक्षा तो सदा मिलती रहती है; किन्तु इस में कमी यही है कि स्त्री-पुरुषों को एक दूसरे के साथ समान व्यवहार की शिक्षा नहीं है। कुटुम्ब रूपी पाठशाला में इस शिक्षा के होने की आवश्यकता है कि मालिक और मालकिन एक दूसरे के प्रति समान व्यवहार करें, एक दूसरे को प्रेम और

सम्मान से स्मरण करें। एक के हाथ में अधिकार रहना और दूसरे का केवल आज्ञापालन करना सर्व्वथा उठ जाना चाहिए। दम्पति में प्रत्यक्ष ऐसा सम्बन्ध होना चाहिए। यह सम्बन्ध जब गृहस्थाश्रम में स्थान पावेगा तभी बाहर के व्यवहार और सम्बन्धों में इसकी शिक्षा का प्रचार होगा। स्त्री-पुरुषों की एक दूसरे के प्रति पूज्यबुद्धि तथा परस्पर अनुकरणीय बर्त्ताव होने ही के कारण बच्चे वैसे आचरण वाले बनेंगे। क्योंकि अपनी अज्ञानावस्था तक माता-पिता की देख-रेख में रहने के कारण, माता-पिता के प्रत्यक्ष आचरण को वे अनुकरण करने योग्य समझते हैं—और बाद में वे स्वाभाविक रीति से वैसा ही आचरण रखते हैं। मनुष्य-जाति में जो अनेक प्रकार के सुधार होने लगे हैं, इनका उद्देश मनुष्य को उच्च जीवन के योग्य बनाना है, और यदि यही है तो नैतिक शिक्षा के द्वारा भी इसकी उन्नति ही होनी चाहिए; किन्तु जो नैत्तिक नियम मनुष्य-जाति की प्रारम्भिक स्थिति के लिए ही योग्य थे, उन्हीं नियमों का व्यवहार जब तक कुटुम्ब में प्रचलित रहेगा, तब तक मनुष्य-जाति की नैतिक शिक्षा का सुधार सफल होही नहीं सकता—यह निर्विवाद है। जिस मनुष्य का उत्कट स्नेह केवल अति निकट और अधीनस्थों पर ही होगा, उसके हृदय में निवास करने वाली स्वाधीनता की प्रीति किसी समय शुद्ध और उच्च प्रकार की नहीं होगी—वह प्रेम संसार का भूषण नहीं होगा; बल्कि अति प्राचीन या मध्ययुग वाले मनुष्यों

[illegible] स्वीकार करता हूँ कि क़ायदे की वर्तमान [illegible] प्रकृत में स्त्री-पुरुष परस्पर समानता का ही [illegible] हैं, और उनके व्यवहार में इतना सीधा-पन है, [illegible] प्रकृत क़ानून का ही पालन कर रहे हैं। और मुझे [illegible] की समानता वाले तत्त्व पर जो यह आशा होती है कि एक दिन यह सर्वराज्य होगा—वह भी इसी बुनियाद पर। क्योंकि जिन के नैतिक विचार प्रचलित क़ानून से आगे बढ़े हुए या सुधरे हुए हों, ऐसे पुरुषों की तादाद जब बढ़ती है तभी क़ानून में सुधार होता है, अर्थात् ऐसे सुधरे हुए बहु-संख्यक मनुष्यों का हो जाना ही क़ानून सुधरने का समय आ जाना है। इस ग्रन्थ के द्वारा मैं जिन विचारों का प्रतिपादन

कर रहा हूँ, उन्हें ऐसा व्यवहार रखने वाले पुरुष ही सब से पहले अपनावेंगे, क्योंकि मेरे विचारों का उद्देश ही यह है कि इन स्त्री-पुरुषों का जैसा पारस्परिक व्यवहार है वैसा ही संसार के बहु-संख्यक मनुष्यों का हो। किन्तु संसार में सदा इस प्रकार घटा करता है कि जो मनुष्य बहुत ही सुआ-चरणी या सदाचार-सम्पन्न होते हैं, यदि वे भी विचार-शील नहीं होते तो प्रचलित रीति-रिवाज या क़ानून उन्हें भी हानि-कारक नहीं मालूम होता, क्योंकि ख़ुद उनके भीतर जो कुछ दुष्परिणाम है उसका अनुभव उन्हें कभी नहीं होता। वे सोचते हैं कि यह रीति-रिवाज बहुत से मनुष्यों की पसन्द के अनुसार है, इसलिए यह लाभकारी ही होनी चाहिए, ऐसी दशा में उसके विरुद्ध शोर करना व्यर्थ है। पर उनके विचारों में बहुत सी ग़लतियाँ होती हैं। वे समझते हैं कि क़ानून ने स्त्री-पुरुषों के अधिकार समान बनाये हैं, बहुधा इसी समझ के अनुसार अपना सम्बन्ध भी रखते हैं, इसलिए विवाह-सम्बन्ध को क़ानून ने किन बन्धनों से जकड़ रक्खा है, इस बात का उन्हें वर्ष में एक बार भी ज्ञान नहीं होता। अपनी समझ और व्यवहार को इस प्रकार का रखने के कारण वे समझते है कि संसार के अधिकांश विवाहित दम्पति इस ही प्रकार अपना व्यवहार रखते है, और जो स्वामी कठोर और निर्दय स्वभाव वाला होता है वही अपनी स्त्री से अत्यधिक कड़ा व्यवहार रखता है। इस प्रकार

मानना—ऐसे भ्रम के वश होना—संसार की घटनाओं और मनुष्य-स्वभाव के सच्चे स्वरूप के विषय में अन्यथा ज्ञान रखने के समान है। सत्ता भोगने वाला जैसा ही कमज़ोर हो और बलवान् उसे अपने पर सत्ता भोगने दे, यह जितना कम सम्भव है, उतनी ही क़ायदे की दी हुई सत्ता उसे अधिक बहुमूल्य मालूम होती है, और उसे वह अधिक सम्मान देता है; बल्कि "मैं नियमानुसार सत्ता को भोग सकता हूँ" इस मीठे और प्रिय सिद्धान्त को सतेज रखने के लिए, उस अधिकार को क़ायदे के अनुसार जहाँ तक फैला सके, तथा (उस के ही समान लोगों का प्रचलित) लोकाचार उसे जिस सीमा तक वह अधिकार फैलाने दे—उस हद तक वह उसे बढ़ाता है और इस प्रकार सत्ता भोगने में आनन्द मनाता है। इस से विशेष इस प्रकार का व्यवहार भी हमारे देखने में आता है कि नीच श्रेणी वाले मनुष्यों में जो पुरुष अत्यन्त जङ्गली और पशुवृत्ति वाले होते हैं, तथा जिन्हें प्रारम्भ ही से नैतिक शिक्षा नहीं मिलती, उन में क़ायदे के अनुसार स्त्री की गुलामी, और अन्य चीज़ों या जानवरों के समान उन पर अधिकार करने का हक़ क़ानून के द्वारा खुला होने के कारण उन्हें यह मालूम होता है कि,—"अपनी विवाहित स्त्री तो एक तुच्छ से तुच्छ पदार्थ के समान है, इसलिए उसे प्रत्येक व्यवहार में धिक्कार देते हुए और तुच्छता से ही बरतना चाहिए।" वे अपनी स्त्री को जितने धिक्कार-योग्य बर्ताव

को पाली समझते हैं, वैसा बर्ताव वे किसी अन्य स्त्री या पुरुष से नहीं करते। मनुष्य के ऊपरी चिन्हों से हृदय की बात जानने की सूक्ष्म दृष्टि वाले जो पुरुष हैं, वे यदि योग्य प्रसङ्गों पर इस बात का ख़याल रख कर देखेंगे तो मैंने जो कुछ ऊपर कहा है वह अक्षर-अक्षर ठीक मालूम हुए बिना न रहेगा। और यदि बारीकी से जाँचने के बाद मेरी बात पूरी उतरे, तो जिस रूढ़ि के प्रचार से मनुष्य के मन इतने कलुषित होने सम्भव हैं, उस से उन्हें धिक्कार और घृणा हुए बिना न रहेगी।

१४—इस स्थल पर कदाचित् यह प्रश्न बहुत से करेंगे कि स्त्रियों को पति की आज्ञा में रहना धर्मशास्त्र के अनुसार है। हमारा यह अनुभव है कि, लोग बुद्धिवाद से जिस की रक्षा नहीं कर सकते उस के विषय में धर्मशास्त्र की आड़ पकड़ लेते हैं। अवश्य ईसाई धर्म के अनुसार जो सूत्र-ग्रन्थ लिखे गये हैं उन में ऐसी आज्ञाओं का उल्लेख है, किन्तु प्रत्यक्ष ईसाई धर्म में किसी स्थल पर ऐसा शासन नहीं दीख पड़ता—धर्म के मूल तत्त्वों के सहारे भी यही अनुमान सिद्ध होता है। ऐसे लोग कहते हैं कि सेन्टपाल ने लिखा है—"स्त्रियो, तुम अपने स्वामियों की आज्ञा में रहो।" पर यही महापुरुष एक स्थान पर यह भी लिखता है कि,—"ग़ुलामो, तुम अपने मालिकों की आज्ञा में रहो।" सेन्टपाल का उद्देश ईसाई धर्म का फैलाना था, इसलिए प्रचलित लोक-रीति और क़ायदे-

क़ानून के विरुद्ध क्रान्ति का उपदेश देने से उसे कोई मतलब ही न था, उसके सम्पूर्ण कार्य का उद्देश ही इससे बिल्कुल भिन्न था। इस धर्म-प्रसारक साधु ने यह भी उपदेश दिया है कि,—"राजा जो राजसत्ता भोगते है, वह केवल परमात्मा की इच्छा से ही भोगते हैं।" ऐसी दशा में इस वचन का क्या यह अर्थ करना चाहिए कि ईसाई लोग 'एकसत्ताक राज्य-तन्त्र' को ही सब से अच्छा समझते है; इसलिए ईसाई देशों को इसी पद्धति को सम्मान देना चाहिए? इसी ही प्रकार अपने समय के प्रचलित आचार-विचार और रीति-रिवाजों को साधु सेन्टपाल ने विशेष सन्मान दिया था, तो क्या इस बात का मतलब यह हो सकता है कि समय के अनुसार प्रत्येक बात के परिवर्तन और सुधार से वह सहमत न था? प्रचलित रीति-रिवाज और प्रचलित पद्धतियों में बिल्कुल लौट-फेर न होने देना, और प्रचलित राज्यपद्धति को सदा-सर्वदा के लिए स्थायी बनाना—और परिवर्तन न करने का ईसाई धर्म का दावा करना तो इस धर्म को मुसल्मानी या हिन्दू धर्म की नीची श्रेणी पर ले आना है। सच बात तो यह है कि ईसाई धर्म ने सुधार का विरोध कभी नहीं किया, इसलिए ही संसार की जिस जाति ने सुधार में सब से आगे क़दम बढ़ाया उसका यही धर्म हो गया, और मुसल्मान तथा हिन्दू सुधार में सब से पीछे हैं, या पीछे हटनेवालों में सब से अव्वल है। ईसाई धर्म के इतिहास से मालूम होता है कि इसे भी

अपने समान बना लेने का विशेष प्रयास इन्होंने कई बार किया, अर्थात् बाइबिल की जगह क़ुरान प्रचलित करने की कोशिश की गई और सुधार के मार्ग में विघ्न डाले। इस पर विशेषता यह कि इन लोगों की सत्ता भी प्रबल हो गई थी, और इनका सामना करने वाले बहुत से मनुष्यों को इस संसार से विदा लेनी पड़ी थी; पर फिर भी इनका प्रयास व्यर्थ हुआ। यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि इनका सामना करने वाले लोग समय-समय पर प्रकट हो जाते थे इसलिए ही हम वर्तमान स्थिति पर पहुँचे, और अब इससे भी उत्तम स्थिति पर पहुँच सकेंगे।

१५—स्त्रियों की पराधीनता के विषय में अब तक जो कुछ विवेचना की गई है, इसका लक्ष्यपूर्वक जिसने अनुसरण किया होगा, उसके ध्यान में स्त्रियों पर पुरुषों के मौरूसी हक़ के विषय में तमाम अनुचित बातें आ गई होंगी, और उसके लिए अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है। विवाह होने से पहले अपने मौरूसी हक़ से, या अपने हाथकी कमाई से जिस स्त्री ने सम्पत्ति सम्पादन की हो, विवाह के बाद भी उस सम्पत्ति पर उसका अविवाहित दशा के समान हक़ रहना जो लोग अनुचित समझते हों—जो लोग पूर्ववत् हक़ स्वीकार करने के लिए दलीलें और सबूत चाहते हों—उन लोगों पर इस ग्रन्थ का असर होना महा कठिन है—उनके लिए यह व्यर्थ है। स्त्री-धन के विषय में, मैं जिस नियम का प्रतिपादन

करना चाहता हूँ वह सीधा और सरलता से समझने योग्य है। सम्पत्ति के सम्बन्ध में ऐसे ढंग से व्यवहार होना चाहिए मानो स्त्री-पुरुष का विवाह हो नहीं हुआ; अर्थात् स्त्री की सम्पत्ति पर स्त्री का अधिकार रहे और पुरुष की सम्पत्ति पर पुरुष का—यही सम्बन्ध विवाह और विवाहित दशा में सदैव बना रहना चाहिए। विवाह के परिणाम स्वरूप जो सन्तान होंगी, उनकी भलाई के लिए सम्पत्ति की जो व्यवस्था की जायगी, उस में इस नियम के द्वारा किसी प्रकार की बाधा न उत्पन्न होगी। विवाह से दो भिन्न-भिन्न जीवन एक होते हैं। विवाह के विषय में इस प्रकार की जो विशाल कल्पना है, उस में सम्पत्ति और धन के भिन्न-भिन्न रहने से विरोध और असंगतता का दोष आता है; और स्वयं मुझे एकत्नता का विचार बहुत रुचिकर होता है; पर इस से मैं सहमत तभी हूँगा जब दोनों के हृदय एक हो गये हों और दोनों में तिलार्द्ध भिन्नता भी शेष न रह गई हो। पर "तेरा सो मेरा और मेरा सो है ही" इस नियम पर जो सम्बन्ध होता है वह मुझे ज़रा भी रुचिकर नहीं। यदि इस प्रकार के सम्बन्ध से स्वयं मुझे लाभ हो रहा हो तब भी मैं ऐसे सम्बन्ध को कभी स्वीकार करने का नहीं।

१६—स्त्रियों पर इस प्रकार का प्रचलित अन्याय, सामान्य लोगों की दृष्टि में भी और बातों से पहले पड़ता है, और अन्य अनर्थों को हटाये बिना भी यदि इसे हटाना चाहें तो

हटा सकते हैं ; इसलिए यह आशा की जाती है कि यही अन्याय सब से पहले दूर होगा। अमेरिका के पुराने और नये राज्यों में जो नियम बनाये गये हैं, उन में सम्पत्ति पर स्त्रियों का अधिकार पुरुषों के समान रक्खा गया है, इस से और कुछ नहीं तो जिन स्त्रियों को थोड़ी बहुत सम्पत्ति होती है उनकी दशा विवाहित स्थिति में भी बहुत कुछ सुधर सकती है, क्योंकि सत्ता के तमाम हथियार खोते-खोते अकेला यही तो उनके हाथ रहता है। इस नियम का दूसरा शुभ परि-णाम यह होता है कि जो नीच पुरुष विवाह का दुरुपयोग करके अनुचित लाभ उठाते थे वह नहीं घटता। ऐसे नीच पुरुष किसी भोली-भाली कुमारी का धन छीनने के लिए उसे प्रेम के जाल में फँसाते, और स्त्री-धन के विषय में किसी प्रकार का नियम निश्चित किये बिना उससे विवाह कर लेते। इस के परिणाम में उस बिचारी की सब सम्पत्ति पति की बन जाती, और वह धोखेबाज़ यदि उसे छोड़ देता तो वह बिचारी न दीन की रहती और न दुनियाँ की। वर्तमान नियम के अनु-सार अमेरिका में यह होना सम्भव नहीं। यदि कुटुम्ब के निर्वाह के लिए पुरखों की सम्पत्ति नहीं होती, अर्थात् अपनी कमाई पर ही जिनका गुज़ारा होता है, उन कुटुम्बों में देखा जाता है कि पुरुष कमाई करके लाता है और स्त्रियाँ घर की देख-रेख करती हैं—और उनके लिए यही व्यवस्था मैं अच्छी समझता हूँ। स्त्रियों को सब से पहले तो सन्तानोत्पादन का

शारीरिक कष्ट और बच्चों को छुटपन में उन्हें योग्य रीतियों से पालन करना फिर उत्तम प्रकार की गृह-शिक्षा देना—ये जवाबदारी के काम तो उसके ज़िम्मे होते ही हैं। इसके अलावा पति की कमाई का योग्य और किफ़ायतशारी के साथ व्यय करना और प्रत्येक बात में कुटुम्ब के सुख को अपने लक्ष्य में रखना भी यदि वह अपने ही ज़िम्मे रखे तो स्त्री और पुरुष दोनों को जो शारीरिक और मानसिक कष्ट गृहस्थाश्रम के कारण होते हैं, उनमें स्त्री ने अपने सिर पूरा भाग ले लिया, बल्कि अपने हिस्से से अधिक भाग ही उसने लिया है। इसके सिवाय यदि कोई बाहर का काम भी अपने ज़िम्मे ले लेवे तो फिर भी गृहकृत्य से तो वह मुक्त हो ही नहीं सकती, बल्कि उस दशा में गृहकृत्य जितना अच्छा होना चाहिये उतना नहीं होता। यदि गृहव्यवस्था और सन्तान-पालन का काम वह अपनी ओर नहीं रखती तो उस काम को और कोई लेता नहीं। परिणाम यह होता है कि सन्तान जिस-तिस प्रकार अव्यवस्था में पल कर बड़ी होती है, और अव्यवस्था के कारण स्त्री जो कुछ कमा कर लाती है वह उस में खर्च हो जाने पर भी कुछ नहीं बचता। इसलिए मेरा मत गृहस्थाश्रम के विषय में यही है कि, स्त्रियों को जहाँ तक हो स्वयं परिश्रम करके घर की आय बढ़ाने की चिन्ता में नहीं ही पड़ना चाहिये। दूसरी ओर गृहस्थी की दशा यदि ख़राब हो, और स्त्री को पराधीनता में रहना पड़ता हो,

ओर स्त्री अपनी कमाई से गृहस्थी का भरण-पोषण करती हो—तो इससे स्त्री को लाभ होगा ; क्योंकि क़ानूनन पुरुष स्त्री का अधिकारी है और इस बात से उसकी नज़र में स्त्री की क़ीमत अधिक होती है ; पर कई बार इस बात का दुरुपयोग भी होता है,—क्योंकि फिर पति स्त्री को कुटुम्ब का पोषण करने के लिए मजबूर करता है, और घर का सब बोझ उस बिचारी के सिर डाल कर स्वयं आलस्य या मद्यपान में अपना समय बिताता है। किसी प्रकार की मौरूसी मिल्कियत न रखने वाली स्त्रियों के लिए स्वतन्त्र रीति से द्रव्योपार्जन की शक्ति रखना अपनी प्रतिष्ठा का अच्छा प्रमाणपत्र है, किन्तु विवाहित दशा में यदि दोनों के अधिकार समान माने जाने की रीति हो, और एक को दूसरे की अधीनता न सहनी पड़ती हो, अर्थात् जिस पक्ष पर बलात्कार होता हो वह प्रकार न घटने दिया जाता हो, और स्त्री के योग्य कारण बताने पर पति से भिन्न रहने और स्वाधीन व्यवसाय करने की आज़ादी हो, अर्थात् इस प्रकार की अनुकूलताएँ हों तो विवाहित दशा में द्रव्योपार्जन की शक्ति को काम में लाने का अवसर ही स्त्री को नहीं मिलेगा।

जब पुरुष उदर-निर्वाह के लिए किसी काम को पसन्द करता है, तब साधारण तौर पर यह समझा जाता है कि वह अपनी शक्तियों का उपयोग उस ही ओर करने के लिए विशेष उपयुक्त है। उस ही प्रकार जब स्त्री विवाह करती

है तब घर के काम-काज करने, सन्तान के पालन-पोषण करने, गृह-शिक्षा देने, गृहस्थी चलाने आदि कामों ही को सब से अधिक पसन्द किया है, यह समझना चाहिए। दूसरे बाहरी कामों में ध्यान देने से उसके इस मुख्य कार्य में हानि आनी सम्भव है, उन कार्यों के कर्त्तव्य से मुक्त होने ही के लिए मानो उसने विवाह किया है; इस प्रवृत्ति-नियम के अनुसार जो व्यवसाय घर से बाहर जाने पर हो सकते हैं या जो घर में बैठे रहने पर भी हो सकते हैं वे दोनों ही वर्ज्य हो जाते है। किन्तु सामान्य नियमों की रचना के समय इस बात का पूरा खयाल रखना चाहिए कि उन नियमों के द्वारा व्यक्ति मात्र के विशेष गुणों का विकाश न रुके और प्रत्येक व्यक्ति को अपनी शक्ति बढ़ाने की पूरी स्वाधीनता हो। अर्थात् विवाह के अनन्तर भी यदि किसी स्त्री की बुद्धि किसी अन्य कार्य में विशेष चल सकती हो, तो उसमें प्रवृत्त होने में उसे किसी प्रकार का बन्धन न होना चाहिए, केवल यह व्यवस्था होनी चाहिए कि यदि वैसा करने से गृहिणी के कर्त्तव्य में किसी प्रकार की कमी रहती हो तो उसे अन्य साधनों के द्वारा पूरा किया जाय। सारांश यह है कि, यदि लोगों में स्त्री-पुरुष की समानता का प्रवाह चल पड़े तो ऐसी छोटी-मोटी बातों के लिए नियम बनाने की आवश्यकता ही कभी न आवे, और इसका निर्णय लोगों की राय पर भी छोड़ा जा सकता है।

तीसरा अध्याय।

१—मैं जो पीछे गृहस्थी में स्त्री को पुरुष के समान अधिकार होने का विवेचन कर आया हूँ, वह जिसकी समझ में पूरी तरह से आगया होगा, उसे स्त्रियों की समानता के लिए अन्य उपाय समझाने अर्थात् सबल पुरुष-वर्ग ने जिन उद्योग-धन्धों पर केवल अपना ही अधिकार जमा रक्खा है उनमें स्त्रियों के भी प्रविष्ट होने की आवश्यकता साबित करने में कुछ भी कठिनाई नहीं है। मैं यह मानता हूँ कि गृह-कार्यों के लिए स्त्रियों को पराधीन रखने में पुरुष प्रसन्न होते हैं, इसका कारण यह है कि कुटुम्ब में यदि कोई बरोबरी का दावा करे तो अधिकांश पुरुषों से यह सहन नहीं हो सकता। यदि यह बात ऐसी न हो तो अर्थशास्त्र और राज-नीति की दृष्टि से प्रत्येक मनुष्य सरलतापूर्वक यह कह सके कि, अच्छी आय वाले धन्धों से मनुष्य-जाति के आधे भाग को सर्वथा पृथक् रखना, और प्रतिष्ठित-अधिकारों से मनुष्य-जाति के आधे भाग को अयोग्य कह देना—घोर अन्याय है। इस ही प्रकार पुरुष-वर्ग का केवल नीच और मूर्ख व्यक्ति भी जिस अधिकार का हक़दार होने योग्य माना जाय, उस ही अधिकार के लिए स्त्रियाँ जन्म से ही अयोग्य समझी जायँ, और किसी उपाय से वे योग्य बनने के लायक़ ही न समझी

जायँ, इस प्रकार का निश्चय कर डालना, तथा स्त्रियों के चाहे जितने योग्य होने पर भी केवल पुरुषों के हित की रक्षा के लिए इस प्रकार के अधिकार और धन्धे वर्ज्य और निषिद्ध कर देना—क्या छोटा सा अन्याय है ? पिछली दो शताब्दियों में लोगों को जब-जब अमुक काम या अधिकार के लिए स्त्रियों के योग्य न होने का उत्तर देना पड़ता था, तब-तब वे यह नहीं कहते थे कि स्त्रियों की मानसिक शक्ति पुरुषों से कम है। क्योंकि उस समय अनेक सार्वजनिक कामों में स्त्रियाँ प्रकट रूपसे भाग ले सकती थीं, और उनकी शक्ति समय-समय पर कसौटी पर चढ़कर साबित उतरती थी, इसलिए पुरुष इस बात के कहने में हिचकते थे कि स्त्रियों की शक्ति पुरुषों से कम है। उस समय स्त्रियों को अधिकारों के अयोग्य बताने की अपेक्षा यह कारण पेश किया जाता था कि समाज की भलाई के लिए यह आवश्यक है—और समाज की भलाई का अर्थ होता था,—पुरुष-वर्ग की भलाई। "राजकीय कारण" कह कर जिस प्रकार राज्य-कर्त्ता अन्यायी और घातकी कामों में हाथ डालते हैं—उसी ही प्रकार "समाज की भलाई" के नाम से पुरुष-वर्ग का स्त्री-वर्ग पर अन्याय करना सर्वसम्मत था। किन्तु इस समय के अधिकार-सम्पन्न लोग बड़ी ही सौम्य भाषा का उपयोग करते हैं, वे जब किसी पर अत्याचार करते हैं, तब "इसी में उसका हित है," की डौंडी पीट देते हैं। इसी ही प्रकार पुरुष जब

स्त्रियों को विशेष-विशेष बातों से रोकना चाहते हैं,—"यह काम तो इनसे हो ही नहीं सकता, इस काम के लोभ में स्त्रियाँ सचमुच अपने वास्तविक सुख को खो बैठेंगी। ये जीवन की सफलता के सीधे रास्ते को छोड़ कर दूसरी ओर जा रही हैं," तब ऐसे ही ऐसे बहाने निकाले जाते हैं। जिन मनुष्यों की यह धारणा हो कि इन बहानों में भी कुछ सचाई के अंश हैं तो उन्हें अपने तमाम व्यवहारों में इस ही का अनुसरण करना चाहिए। पर यदि इस बात की खोज ही करनी है तो स्त्रियाँ पुरुषों से बुद्धि में कम हैं इसके केवल मान बैठने ही से काम न चलेगा। उच्च-प्रतिभा-सम्पन्न कामों और कर्त्तव्यों के योग्य बुद्धि रखने वाली स्त्रियाँ उन कामों के योग्य बुद्धि रखने वाले पुरुषों से संख्या में कम हैं, इस बात को केवल कह देने ही से कुछ नहीं होता। बल्कि पुरुषों को डङ्के की चोट यह साबित कर देना चाहिए कि फलाने काम के योग्य बुद्धि रखने वाली स्त्री इस संसार में नहीं मिलेगी और अत्यन्त बुद्धिमान से बुद्धिमान् स्त्री की मानसिक शक्ति भी साधारण से साधारण बुद्धि वाले पुरुष से नीची ही होगी। क्योंकि ऊँचे से ऊँचे अधिकारों को भोगने और अच्छे से अच्छे कामों को करने में जिस स्पर्द्धा को समाज महत्त्व देती है, यदि स्त्रियाँ प्रकृति से वास्तव में नीची ही हैं तो स्त्रियों के लिए भी स्पर्द्धा का दरवाज़ा खोलने में कोई हानि नहीं—डरने का कोई कारण नहीं। यदि

यह प्रथा चल जाय तो परिणाम यह होगा कि बड़े से बड़े कामों में पुरुषों से स्त्रियों की संख्या कम हो सकती है, क्योंकि जिस काम में स्त्रियों को दूसरों की स्पर्द्धा का डर न होगा उसे ही वे सब से अधिक पसन्द करेंगी। कोई मनुष्य स्त्रियों के सुधार का चाहे जितना कट्टर से कट्टर विरोधी हो पर उसका छुटकारा भी इस बात को माने बिना तो नहीं हो सकता कि, प्राचीन इतिहास और वर्तमान समय के हमारे अनुभव से यह सिद्ध हो चुका है कि पुरुष जिन-जिन कामों को करते हैं उन-उन के करने की योग्यता बहुत सी स्त्रियों में होती है, बल्कि उन कामों को बड़ी ख़ूबी से पूरा करके स्त्रियों ने रख दिया है। स्त्रियों के ख़िलाफ़ अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि कुछ इने-गिने कामों में अभी-तक स्त्रियों ने अपने आप को पुरुषों से अधिक साबित नहीं किया—पुरुषों के समान अलौकिक काम अभी तक किसी स्त्री के हाथ से नहीं बन पड़े—सारांश यह है कि कुछ कामों में स्त्रियों ने सब से ऊँचा स्थान नहीं प्राप्त किया। पर इसके साथ ही इस बात पर भी ध्यान रखना ज़रूरी है कि बुद्धि-सामर्थ्य पर आधार रखने वाले कामों में क्या कोई काम ऐसा नहीं है कि जिसमें स्त्रियाँ पहला नहीं तो दूसरा स्थान भी प्राप्त न कर सकी हों? इतना सब कुछ होने पर भी स्त्रियों को पुरुषों के साथ स्पर्द्धा में न उतरने देना—रोकना—क्या अन्याय नहीं है? और समाज की क्या इससे कम हानि

है ? फिर जिन पुरुषों को वे काम दिये जाते हैं वे बहुत बार स्त्रियों से भी कम योग्यता वाले होते हैं,—यदि उन पुरुषों और स्त्रियों की परीक्षा ली जाय तो वे पुरुष बहुत पीछे रह जायँगे—इस प्रकार के बहुत से उदाहरण हमारी आँखों के सामने से गुज़र जाते हैं—इसे न मानने के लिए कौन तैयार है ? यदि यह मान लिया जाय कि उनसे अधिक योग्यता वाले पुरुष और किन्हीं कामों में लगे होंगे, पर इससे वास्तविक स्थिति में क्या अन्तर होता है ? क्या प्रत्येक स्पर्द्धा वाले काम में ऐसा नहीं हुआ करता ? ऊँचे से ऊँचे अधिकार भोगने के लिए और प्रतिभा-सम्पन्न कार्य सम्पादन करने वाले पुरुष क्या संसार में इतने अधिक होगये है कि मनुष्य-समाज को वास्तविक योग्यता-सम्पन्न व्यक्ति से काम लेने के लिए नाँहीं करनी पड़े ? किसी महत्त्व के या सार्वजनिक काम के लिए जब किसी योग्य मनुष्य की आवश्यकता हो, तब क्या इस बात का प्रमाण मिल चुका है कि उस योग्यता वाला व्यक्ति पुरुष-वर्ग में से ही मिलेगा ? क्या हमें ऐसा कोई ज़बर्दस्त कारण मिल चुका है कि जिसके आधार पर हम मनुष्य-जाति के आधे भाग को बिल्कुल अयोग्य मान लेवें ? और उस वर्ग वालों की बुद्धि चाहे जैसी विलक्षण और अलौकिक हो—फिर भी उनके लिए यह निश्चय कर डालें कि वह किसी काम की नहीं—और फिर क्या हम यह भी साबित कर सकते हैं कि हमारे उस निश्चय से समाज को

कोई हानि न होगी? कदाचित् हम स्त्रियों की विलक्षण से विलक्षण बुद्धि से भी काम न लेने का दृढ़ संकल्प कर बैठें, और हमारी यह भी दिलजमई हो गई हो कि समाज को भी इससे कोई हानि न होगी—फिर भी संसार में अपना नाम और इज़्ज़त कमाने के लिए जो कुछ साधन है उन्हें हम स्त्रियों के लिए सदैव बन्द करते है—और इस सर्व-सम्मत सिद्धान्त पर पानी फेरते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन-निर्वाह का काम चुनने में स्वाधीन है—तो क्या यह काम अन्याय नहीं है? फिर यह अन्याय केवल स्त्रियों को ही नुक़सान पहुँचाने वाला नहीं है, बल्कि जो-जो पुरुष स्त्रियों से लाभ उठा सकते थे उन सब का नुक़सान है। यदि यह क़ानून बना दिया जाय कि अमुक-अमुक वर्ग के मनुष्य विकालत, वैद्यक या पार्लिमेण्ट के सभासद होने योग्य नहीं है—तो इसका अर्थ यह नहीं है कि जिन मनुष्यों को रोका गया है उन्हीं का नुक़सान होगा—बल्कि जिन-जिन को वकील, वैद्य की आवश्यकता पडती है, तथा जिन्हें पार्लिमेण्ट में प्रतिनिधि भेजने का हक़ है—उन सब को बड़ी भारी हानि होनी सम्भव है। सब से पहले तो जिस क्षेत्र से उम्मीदवार चुने जाते है वह क्षेत्र ही उतने परिमाण में काम हो जायगा, दूसरे स्पर्द्धा का जो यह उत्तम गुण है कि अधिक प्रतिस्पर्द्धियों में विशेष परिश्रम और मनोयोग-पूर्वक काम किया जाता है वह कम होगा—जब स्पर्द्धा करने वालों की

संख्या कम होगी—तब मनुष्य-समाज को वह लाभ नहीं हो सकता।

२—मैं इस विषय के सविस्तर विवेचन में जो दलीलें पेश करूँगा उन में केवल सार्वजनिक या लोकोपयोगी कामों का विवेचन करना ही काफ़ी होगा, क्योंकि यदि मैं ऐसे कामों में स्त्रियों का स्वाधीन होना पाठकों के सामने साबित कर दूँ तो फिर जो थोड़े से उपयोगी कार्य बचेंगे जिन्हें स्त्रियाँ नहीं करने पातीं—उन में साबित करना बहुत ही सरल होगा। इस समय हम केवल एक ही अधिकार से विवेचना शुरू करते हैं—और वह अधिकार भी ऐसा कि जिस में स्त्रियों के अधिकार स्वीकार करने का आधार उनके मानसिक शक्तियों के निराकरण पर बिल्कुल अवलम्बित नहीं है—अर्थात् जिस अधिकार को प्राप्त करने में अमुक प्रकार की मानसिक शक्ति की आवश्यकता नहीं पड़ती। मुझ से इस अधिकार का नाम पूछा जायगा तो मैं कहूँगा कि म्यूनिसिपेलिटी तथा पार्लिमेण्ट के सभासद चुनने का अधिकार। जो मनुष्य कोई सार्वजनिक हक़ भोगे उसे पसन्द करना—अर्थात् चुनना और उस अधिकार के लिए उम्मीदवारी करना—इन दोनों में विशेष अन्तर है। यह निर्विवाद है कि यदि ऐसा नियम बनाया जाय कि जो व्यक्ति पार्लिमेण्ट के सभासद होने की योग्यता न रखता हो, उसे सभासद चुनने का भी अधिकार नहीं होगा—तो राज्य की डोर थोड़े से आदमियों के हाथ

अधिकारों के विषय में सोचेंगे तो जिस देश की राज्यव्यवस्था में, ऐसे नियम बनाये गये हों कि अयोग्य मनुष्य उन अधिकारों तक पहुँच ही न सकें—तो इससे अयोग्य स्त्रियाँ भी उन तक न पहुँच सकेंगी। और यदि ऐसे नियम न हो—तथा अयोग्य मनुष्य उत्तरदायित्व के अधिकारों पर जा पहुँचते हों, तो वे चाहे पुरुष हो या स्त्री—दोनों समान है—उस दशा में अयोग्य स्त्रियों से विशेष हानि ही क्या है। इसलिए जब तक यह स्वीकार किया जायगा कि सार्वजनिक अधिकार भोगने और कर्त्तव्य पूरा करने में थोड़ी-बहुत भी योग्य स्त्रियाँ निकलनी सम्भव है, और जिस क़ायदे को अपवाद बना कर वे रोकी जायँगी वह सार्थक नहीं हो सकता। यद्यपि स्त्रियों की योग्यता का सवाल प्रस्तुत वादविवाद के निर्णय में किसी प्रकार उपयोगी या सहायक नहीं हो सकता, फिर भी यह प्रश्न निरुपयोगी नहीं हो सकता। क्योंकि स्त्रियों की बुद्धि के विषय में यदि निष्पक्ष विचार किया जाय, और लोगों की इस विषय में जो कुछ ख़ामख़याली है वह सुधरे, तो बहुत सी बातों में जो स्त्रियाँ अपात्र समझी जाती हैं, इसके खण्डन में मै जो दलीलें पेश करना चाहता हूँ उनका बहुत कुछ समर्थन हो। इस ही प्रकार यह सिद्ध करने में भी बहुत सहायता मिले कि व्यावहारिक बातों में विशेष लाभ होगा। इसलिए अब यही विचार करें।

४—मानसशास्त्र की सहायता से जो बातें सिद्ध हो

सकती हैं, उन्हें अभी हम एक ओर छोड़ देंगे—अर्थात् स्त्री पुरुष की मानसिक शक्ति में जो भेद माना जाता है, वह किसी प्रकार प्रकृतिसिद्ध या स्वाभाविक नहीं है—बल्कि कृत्रिम है,—स्त्री वर्ग और पुरुष-वर्ग में जो भेद रक्खा जाता है, तथा प्रत्येक वर्ग के चारों ओर जिन भिन्न-भिन्न कारणों का संयोग बना रहता है, उस भिन्नता के ही कारण उन की बुद्धि-सामर्थ्य में भी अन्तर होता है—ऐसे निश्चय पर हम जिन विचारों की सहायता से पहुँच सकते हैं, उन्हें अभी हम छोड़ते हैं। इस समय हम यही उठाते हैं कि पहले स्त्रियाँ कैसी थीं और अब कैसी हैं—अर्थात् प्रत्यक्ष रीति से स्त्रियों ने अपनी बुद्धि-सामर्थ्य का कितना परिचय दिया है। अधिक नहीं तो जितने काम स्त्रियाँ अब तक कर सकी हैं उतने तो सदैव कर ही सकेंगी—अर्थात् इस बात को तो स्वयंसिद्ध समझना चाहिये कि उतनी शक्ति तो उन में है ही। जिन उद्योग-धन्धों या व्यवसायों की शिक्षा केवल पुरुषों के ही लिये रक्खी गई है और स्त्रियों को जिनके विषय में कुछ भी बताया नहीं गया, बल्कि उसके खिलाफ़ शिक्षा देकर उनके मनको उन उद्योग-धन्धों या व्यवसायों से फिरा देने की पूरी कोशिश की गई है—इस बात को जब हम अपने लक्ष्य में रक्खे हुए ऐसे उदाहरणों पर दृष्टि दौड़ाते हैं, जिन्हें आजतक स्त्रियों ने पूरे करके प्रत्यक्ष दिखा दिये हैं,—मैंने इस प्रकार स्त्रियों की बुद्धि-सामर्थ्य नापने का जो निश्चय

किया है वह किसी प्रकार स्त्रियों का पक्ष लिये हुए नहीं है, यह स्पष्ट है। क्योंकि अभावदर्शक प्रमाण (Negative evidence) अधिक होने पर भी उतना कार्यकारी नहीं होता जितना प्रत्यक्ष (Positive) प्रमाण थोडा होने पर भी निर्णायक और निश्चयात्मक होता है। होमर, * अरिस्टाटल, † माइकेल एँजेलो, ‡ और बिथोविन § आदि ने विद्या में जो उच्चता और उत्कृष्टता का अपूर्व उदाहरण स्थापित किया, ऐसा अपूर्व नैपुण्य आज तक किसी भी स्त्री ने नहीं दिखाया—इसलिए ऐसी प्रवीणता रखने वाली कोई स्त्री निकलनी असम्भव है—यह अनुमान निर्दोष नहीं। इस अभाव दर्शक अनुमान से इतना ही सार निकाला जा सकता

---

* होमर (Homer) ग्रीक लोगों का आदि कवि है। इसका समय ईसा से लगभग एक हज़ार वर्ष पूर्व है। इस के "इलियड" और "ओडिसी" बड़े प्रतिष्ठित ग्रन्थ हैं। हिन्दुओं में वाल्मीकि और व्यास का जो आदर है, ग्रीकों में होमर का वही स्थान है॥

† अरिस्टाटल (Aristotle या अरस्तू) ग्रीस का प्रसिद्ध तत्वज्ञानी है। इसका जन्म ईस्वी पूर्व ३८४ और मरण ईस्वी पूर्व ३२२ वर्ष है। यह प्रसिद्ध सिकन्दर का गुरु था। तत्वज्ञानियों में इसका नाम बड़े सम्मान से लिया जाता है।

‡ माइकेल एँजेलो (Michael Angelo) इटली देश का सुप्रसिद्ध चित्रकार, मूर्तिकार और शिल्पी हो गया है। इसका जन्म १४७५ ई० में हुआ और मृत्यु १५६४ ई० में हुई।

§ बिथोविन (Beethoen) प्रशिया में १७७० ईस्वी में पैदा होकर १८२७ ईस्वी में मरा। यह भारत के तानसेन के समान गवैया था। संगीत, वाद्यकला और स्वर-रचना में इसकी बुद्धि बड़ी ही विलक्षण थी।

है कि संसार में कोई ऐसी योग्यता वाली स्त्री होगी या नहीं, यह निश्चयात्मक रीति से नहीं कहा जा सकता। अर्थात् इस प्रश्न की सहायता से मानसशास्त्र में वादविवाद की गुञ्जाइश निकल सकती है—बस, इससे अधिक नहीं। पर स्त्रियों के लिए यह तो छाती ठोक कर कहा जा सकता है कि उनमें रानी एलिज़ाबेथ, * डिबोरा, † या जान ऑव् आर्क ‡ बनने की योग्यता है, क्योंकि यह कोई आनुमानिक प्रमाण नहीं बल्कि प्रत्यक्ष है। यह सिद्ध हो चुका है कि क़ानून से स्त्रियाँ जिस काम को करने के लिए रोकी गई हैं उस में वे उत्तीर्ण हुई हैं—अर्थात् उसे वे भली भाँति कर सकी हैं। यद्यपि शेक्सपियर के समान नाटक लिखने तथा मोज़ार्ट § के समान

---

*—एलिज़ाबेथ (Elizabeth) इङ्गलैण्ड के सिंहासन पर बैठी है। इसने इङ्गलैण्ड को बड़ी-बड़ी कठिनाइयों से बचाया है। इसकी ही कारण इङ्गलैण्डका सम्मान अधिक हुआ है। इसकी समय में ही इङ्गलैण्ड की व्यापारिक, औद्योगिक, राजनैतिक और साहित्यिक उन्नति का बीज बोया गया था। इसकी शासन में इङ्गलैण्ड की प्रजावृद्धि बहुत हुई थी।

†—डिबोरा (Deborah) एलिज़ाबेथ के ही समान प्रतिष्ठित और गुणवती स्त्री इङ्गलैण्ड में हुई है।

‡—जॉन ऑव् आर्क (Joan of Arc) वीर फ्रेञ्च रमणी थी। इसने अपने बाहुबल से सैन्य संग्रह करके स्वदेश के बचाने के लिए अंगरेज़ों से घोर संग्राम किया था। परिणाम में यह जीती जलाई गई थी। जन्म १४११ ई०।

हमारे देश में अहिल्याबाई होल्कर, झाँसी की महारानी लक्ष्मीबाई और सुलताना चाँदबीबी आदि भी इसी श्रेणी की हुई हैं।

§—मोज़ार्ट (Mozart) यह जर्मनी का सुप्रसिद्ध संगीत-काव्य-लेखक हुआ है। जन्म १७५६ ई० और मृत्यु १७९१ ई०।

संगीत-काव्य बनाने में स्त्रियों को क़ानून ने कभी नहीं रोका, किन्तु यदि वारिसी हक़ से रानी एलिज़ाबेथ और महारानी विक्टोरिया को राजपद प्राप्त न होता—तो एलिज़ाबेथ ने जो बड़े-बड़े राजकीय कर्त्तव्यों को पूरा किया—उन उदाहरणों का शतांश भी इस समय नहीं कहा जा सकता था।

५—मानसशास्त्र की दृष्टि से विचार न करके, प्रत्यक्ष अनुभव से जो कुछ अनुमान निकल सकता है तो वह केवल यही कि स्त्रियों को जिन कामों की मनाही की गई है, विशेष करके उन्हीं कामों के योग्य वे पाई गई है—उन्हीं कामों में उनकी बुद्धि विशेष दिखाई दी है। क्योंकि राज्य-सञ्चालन का जो उन्हें थोड़ा सा अवसर दिया गया, उससे राज्याधिकार के विषय में उनकी योग्यता निश्चयात्मक रूप से सिद्ध हो चुकी, इससे विरुद्ध प्रतिष्ठा-सम्पादन में जो उन्हें पूर्ण स्वाधीनता दी गई है, उस में उन्होंने अपनी उतनी योग्यता नहीं प्रदर्शित की। संसार के इतिहास को देखेंगे तो राज्यकर्त्ता राजाओं की संख्या से राज्यकर्त्री स्त्रियों की संख्या बहुत ही कम है; और उस बहुत कम संख्या में भी जिन्होंने राजकार्य पूरी योग्यता से निभाया ऐसी स्त्रियों की संख्या सब से अधिक है—उस में भी विशेषता यह है कि कई रानियों के राज्यकाल में राष्ट्र पर बड़े-बड़े विपत्ति के बादल आये और उन्होंने उनसे राष्ट्र की रक्षा की। इसके अलावा विशेष चमत्कार की बात यह है कि स्त्रियों के स्वभाव

के विषय में लोगों की जो समझ बन गई है—अर्थात् चञ्चलता आदि दोष जो स्त्रियों के स्वभाव में माने जाते हैं, उन रानियों के चरित्र में इनके विरुद्ध गुणों को तो विशेष ख्याति हुई है। स्त्रियों के राज्य में जितनी अधिक उनकी बुद्धि की सामर्थ्य दिखाई देती है, उस ही के समान उनके मन की दृढ़ता, धीरता, विचार, समदृष्टिपन आदि गुण दिखाई देते हैं। सिंहासन पर बैठने वाली रानियों के अलावा बड़े-बड़े प्रान्तों की सूबेदारिनें, नाबालिग़ राजा के समय में राजकार्य चलाने वाली राजमाताएँ तथा स्त्रियों के अन्य प्रबन्ध-सम्बन्धी कामों को जब हम गिनती करते हैं, उस समय राजकार्य में विशेष यश प्राप्त करने वाली स्त्रियों की संख्या बहुत अधिक होजाती है।* यह बात इतनी निर्विवाद है कि इसका कोई उत्तर

---

* इस स्थल पर ग्रन्थकार ने निम्नलिखित टिप्पणी दी है,—

इस अवसर पर एशिया और योरप दोनों देशों पर विचार करेंगे तो इसकी सत्यता का प्रमाण बहुत कुछ मिलेगा। हिन्दू-देशों का एक-आध संस्थान या राज्य यदि उत्कृष्ट नियमों पर चल रहा हो, जागृति और होशियारी से चल रहा हो, प्रजा पर किसी प्रकार का अन्याय न होता हो, प्रबन्ध अच्छा हो, दिन प्रति दिन खेती आदि का सुधार होता जाता हो, प्रजा की प्रसन्नता बढ़ती जाती हो—तो इसे निश्चय समझो कि ऐसे चार राज्यों में से तीन का प्रबन्ध स्त्रियों के हाथ में होगा। मुझे बिलकुल आशा नहीं थी कि हिन्दू-राज्यों में यह प्रकार होगा—किन्तु देशी राज्यों के हिसाब-किताब से मेरा एक अर्से तक सम्बन्ध रहा है और सरकारी दफ्तर से मैं यह तथ्य संग्रह कर सका हूँ। इस प्रकार के उदाहरणों की कमी नहीं है। हिन्दुओं के रीति-रिवाज के अनु-

ही नहीं हो सकता—इसलिए इसी दलील को प्रतिपक्षी उलटी काम में लाने लगे। इस सच्चे प्रमाण में स्त्रियों का उपहास करते हुए उन्होंने यह प्रतिपादन किया कि राजाओं से रानियाँ अधिक योग्यता-पूर्वक राज्य चला सकती हैं इसका कारण यह है कि, राजाओं के राज्यों में वास्तविक सत्ता स्त्रियों के हाथ में होती है; और रानियों के राज्य में वास्तविक सत्ता पुरुषों के हाथ में रहती है।

६—ऐसे उपहास-युक्त वचनों का जवाब देना अपने समय को व्यर्थ खोना है; पर ऐसे कथन सर्वसाधारण के मतों पर ज़रूर असर करते है,—मानो इस बात में कोई महत्त्व भरा है ऐसा जनाते हुए मैंने बहुतों को वादविवाद करते सुना

सार स्त्रियों को प्रत्यक्ष राज्य करने का अधिकार नहीं है, पर राज्य का अधिकारी जब छोटी अवस्था का यानी नाबालिग होता है, उस समय राजमाता को नियमानुसार राज्य करने का हक होता है। और ऐसे प्रसङ्ग अक्सर होते हैं, क्योंकि राजा विशेष करके आलसी और विषयासक्त होने के कारण अकालमृत्यु के ग्रास बनते हैं। ऐसी राजरानियां प्रकट होकर कभी लोगों के सामने नहीं बैठ सकतीं। अपने कुटुम्ब को छोड़ कर किसी पर-पुरुष से वे बातें नहीं कर सकतीं। यदि कभी ऐसी आवश्यकता ही हो तो परदे की आड से कहती-सुनती हैं। उन्हें पढना-लिखना बिल्कुल नहीं आता, यदि किसी को कुछ आता भी हो तो दुर्भाग्य से उनकी भाषा में ऐसी पुस्तकें ही नहीं हैं जो राजकार्य सिखा सकें। इन सब बातों को ध्यान में रखकर जब हम स्त्रियों के राजकार्य को देखते हैं तब यही सिद्धान्त बनता है कि स्त्रियां सर्वथा राज्य करने के योग्य हैं।

है। हमें भी कोई न कोई विषय उठा कर वाद-विवाद करना है, इसलिए इससे ही प्रारम्भ करना अच्छा है—इसलिए सब से पहले हमें यह खोज निकालना है कि इस कथन में सत्य का अंश कितना है। सब से पहले तो निश्चय-पूर्व्वक यह कहता हूँ कि इस कथन में सत्यता का लेश भी नहीं है—राजाओं के राज्य में वास्तविक राजसत्ता स्त्रियों के हाथ में नहीं होती। यदि ऐसे दृष्टान्त कभी-कभी निकल भी आते हों तो वे अपवाद रूप हैं, तथा राजाओं की निर्बलता के कारण उन पर स्त्रियों का अधिकार होने से जितने राज्यों के ख़राब होने के दृष्टान्त हैं, उतने ही दृष्टान्त पुरुषवर्ग के मर्ज़ीदानों द्वारा राज्य ख़राब होने के मिलते हैं। अर्थात् राजा के निर्बल होने पर स्त्री का उस पर जितना अधिकार होता है, उतना ही पुरुषों का भी होता है। जो विषयासक्त और स्त्रीलम्पट होता है उसका राज्य-प्रबन्ध अच्छा होना तो सम्भव ही नहीं। फ्रान्स देश के इतिहास में दो उदाहरण ऐसे मिलते हैं जिन में राजाओं ने अपनी मरज़ी से स्त्रियों के हाथ में राज्य की लगाम सौंपी। उनमें एक आठवाँ चार्ल्स, जिसने छोटे होने के कारण राजभार अपनी मा को सौंपा; पर ऐसा करने में इसने अपने बाप ग्यारहवें लुई का कहना किया था, जो अपने समय का सब से अधिक बलवान् राजा था। दूसरा राजा सेंट लुई था, जिसने राज-भार अपनी बहन को सौंपा था। शार्लमैन राजा के पीछे, उसके समान बुद्धिमान् और प्रतापी और कोई नहीं हुआ।

इन दोनों राजपुत्रियों ने राज को जिस योग्यता से चलाया, उतनी योग्यता उस समय के और किसी राजा ने नहीं दिखाई। सम्राट् पाँचवाँ चार्ल्स अपने समय का बुद्धिमान् और प्रतापी राज्यकर्त्ता था। उसके दर्बार में बुद्धिमान् और नीति-कुशल मन्त्री थे। उसका मन भी इतना निर्बल न था कि अपने शारीरिक स्वार्थ के लिए वह अपने राज्य को किसी प्रकार का धक्का देता। इतना होते हुए भी उसने अपने कुटुम्ब की दो राजकुमारियों को नेदर्लैंण्ड प्रान्त की सूबेदारी दी थी, और अपने राज्यकाल-भर में उसने उन्हें अदल-बदल कर क़ायम रक्खा। (पीछे यह अधिकार एक तीसरी राजकुमारी को मिला।) दोनों का कार्य बहुत ही योग्यता वाला निकला, और उनमें आस्ट्रिया की मार्गारिट तो अपने समय की प्रसिद्ध राजनीति जानने वाली हुई है। यह तो इस प्रश्न का एक बाज़ू है। अब इसे दूसरी ओर से देखें। स्त्रियों के राज्य में वास्तविक राजसत्ता पुरुषों के हाथ में होती है, इस कहावत का अर्थ, "राजाओं के राज्य में वास्तविक राजसत्ता स्त्रियों के हाथ में होती है" के समान ही है या इसका और भी कोई मतलब है? क्या लोग यह कहना चाहते हैं कि राजकार्य चलाने के लिए स्त्रियाँ जिन पुरुषों को पसन्द करती हैं, वे और कोई नहीं बल्कि जिन से उन्हें विषय-सुख प्राप्त हुआ हो वे ही होते हैं? इस विषय में मेरा कहना यही है कि, ऐसे उदाहरण कहीं भूले-भटके ही मिल

सकते हैं। दूसरी कैथराइन के समान शिथिल आचरण वाली रानी शायद ही कहीं मिले, पर उसके राज्य में भी कभी यह नहीं घटा। और राज्यकर्त्री रानियों पर पुरुषों का अधिकार होने से जो राज्य का अच्छा होना बताया जाता है—ऐसा संयोग उपस्थित होने पर—अर्थात् अपने जार को राज्य-तन्त्र की डोर सौंप देने पर, तो राज्य कभी अच्छा होता ही नहीं—ऐसे दृष्टान्तों से कोई राज्य पूरा नहीं उतरा। यदि राजाओं के राज्य से रानियों के राज्य की डोर विशेष बुद्धिमान् मन्त्रियों के हाथ में होनी सच मानी जाती हो, तो इसका कारण यही होना चाहिए कि अच्छे मन्त्री चुनने की बुद्धि स्त्रियों में विशेष होती है। साथ ही यह बात भी मंज़ूर करनी चाहिए कि राज्य करने में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक योग्य हैं, तथा प्रधान मन्त्री के पद के भी वे योग्य हैं, और बड़े-बड़े ओहदों को वे योग्यता से चला सकती हैं। क्योंकि तमाम राज को अकेले चलाना राजा या प्रधान मन्त्री का ही काम नहीं होता; बल्कि उनका काम यह होता है, कि राज्य-भर में से योग्य से योग्य व्यक्ति चुनकर उन्हें उनकी योग्यता के अनुसार पद देते हैं। इस बात को पुरुष भी स्वीकार करते है कि मनुष्य की परीक्षा करने में स्त्रियाँ पुरुषों से योग्य हैं; यदि अन्य गुणों में वे पुरुषों का मुक़ाबिला थोड़ा-बहुत भी कर सकती हों, तो सत्वर परीक्षा के गुण के कारण राजकार्य चलाने के विशेष योग्य वे ही हैं।

राज्य चलाने का मुख्य अङ्ग यही है कि, योग्य से योग्य मन्त्रियों का चुनाव किया जाय—और इस काम में स्त्रियाँ पुरुषों से विशेष योग्य हैं। 'कैथराइन-डी-मेडिसी' के समान सदसद्विचारशून्य राजकुमारी भी 'चान्सलर डीला हॉपिटेल' जैसे राजकार्यकुशल व्यक्ति की योग्यता पहचान सकी थी। इसके सिवा यह बात भी सत्य है कि आजतक जितनी प्रसिद्ध रानियाँ होगई हैं उन्होंने केवल अपने बुद्धिबल और होशियारी से ही प्रतिष्ठा प्राप्त की है, और इस ही गुण के कारण उनके मन्त्रियों ने ईमानदारी से उनका काम किया। राज की डोर के सब सूत्र ये रानियाँ अपने ही हाथ में रखती थीं, समय-समय पर वे अपने बुद्धिमान् मन्त्रियों से सलाह लेतीं, इससे यही सिद्ध होता है कि राज्य के उलझे हुए झगड़ों में जिस गम्भीर विवेक-बुद्धि की आवश्यकता पड़ती है, वह उनमें अवश्य थी, और इसलिए ही वे ऐसे जवाबदारियों के काम के सर्वथा उपयुक्त थीं।

७—जो मनुष्य राज्य के अत्यन्त महत्त्व वाले और जवाबदारी के अधिकार भोगने के योग्य होता है, वही मनुष्य कम महत्त्व वाले अधिकारों के अयोग्य होता है, क्या इस बात को ज़रा देर के लिए भी मान सकते है? प्रसङ्ग के अनुसार जब-जब ज़रूरत पड़ी है तब तब राजाओं की स्त्रियों, बहनों और राजकुमारियों ने राज्यकार्य चलाने में पूरी योग्यता का परिचय दिया है; फिर दर्बारियों, कामदारों, मन्त्रियों,

कम्पनियों के संस्थापकों और सार्वजनिक संस्थाओं के सञ्चालकों की स्त्रियाँ, बहनें और पुत्रियाँ क्या अपने-अपने घर-वालों का काम चलाने के अयोग्य है? क्या उन्हें अयोग्य मानने का कोई ख़ास कारण है? सच्चा कारण जो कुछ है वह स्पष्ट है; राजघराने में पैदा होने वाली स्त्रियाँ स्त्री होने के कारण पुरुषों से नीची अवश्य समझी जाती हैं, किन्तु कुलीनता के कारण वे अन्य पुरुषों से उच्च होती हैं। इसलिए उन्हें किसी समय इस प्रकार की शिक्षा नहीं दी जाती कि स्त्रियों को राजकार्य में हाथ न डालना चाहिए, यह स्त्रियों को शोभा नहीं देता; बल्कि चारों ओर वैसी ही घटनाओं का सन्निवेश होने के कारण एक स्वाभाविक हौंस का जागना आवश्यक है, और कभी-कभी उन घटनाओं में भाग लेने की भी उन्हें आवश्यकता आही जाती है—इसलिए राज-नैतिक विषयों में सोचने-विचारने और भाग लेने की उन्हें स्वाधीनता होती है। संसार में यदि कुछ ऐसी स्त्रियाँ हैं जिनके लाभ की संख्या पुरुषों के समान है और जिनकी शक्तियों का विकाश पुरुषों के समान स्वाधीनतपूर्व्वक होने दिया जाता है, तो वे राजकुटुम्ब की ही स्त्रियाँ है। और इस ही बात के कारण राजघराने की स्त्रियाँ पुरुषों से किसी बात में कम नहीं होतीं। जिस-जिस स्थान पर, जिस परिमाण में स्त्रियों की राज्याधिकार भोगने और उनका कर्त्तव्य पूरा करने की शक्ति कसौटी पर पजोखी गई है, उन-

उन स्थानों पर उस परिमाण में उनकी योग्यता सिद्ध हुई है।

८—स्त्रियों की वास्तविक मनोवृत्तियो और उनकी विशेष बुद्धि के सम्बन्ध में संसार को जो कुछ थोड़ा-बहुत और अधूरा अनुभव प्राप्त हुआ है, और उनके विषय में इतनी सी सामग्री से जो कुछ अनुमान बाँधा जा सकता है—वह ऊपर वाले सिद्धान्त से मिलता-जुलता होता है। पर साथ ही इस बात को भी याद रखना चाहिए कि, यह अनुमान उस ही स्थिति के लिए लागू है जो आज तक दिखाई दी है। मैं यह नहीं कहना चाहता कि, स्त्रियाँ पीछे भी अपनी यही दशा बनाये रहेंगी। क्योंकि मैं ऊपर इस बात को अनेक बार जता चुका हूँ कि स्त्रियों का स्वभाविक धर्म या विशेष गुण क्या है और क्या नहीं,—या यह निश्चय कर देना कि पीछे से स्त्रियों का धर्म अमुक होगा और अमुक नहीं—यह बड़े साहस या मूर्खता का काम है। उनके स्वाभाविक विकाश, अर्थात् उनकी मानसिक और अन्य शक्तियों को इतनी कृत्रिमता का रूप दिया गया है कि उनका प्रकृत धर्म बदले बिना न रहा होगा, और बहुत से तो बदल ही गये होंगे—यह निश्चित है। स्त्रियों का स्वाभाविक विकाश यदि पुरुषों के समान स्वाधीनता से होने दिया गया होता, और मनुष्य-जीवन के लिए जिस हद तक स्त्री-पुरुष के स्वाभाविक विकाश को कृत्रिम बनाने की आवश्यकता है, उस से ज़रा भी

अधिक कृत्रिमता स्त्रियों के स्वभाव को देने की कोशिश न की गई होती, तो उस दशा में स्त्रियों के स्वभाव और शक्तियों ने जो स्वरूप धारण किया होता, उस में और पुरुषों के स्वभाव और शक्ति में कितना सूक्ष्म अन्तर होता—इसे कोई निश्चयात्मक रूप से नहीं कह सकता। मैं आगे चल कर इसे सिद्ध कर दूँगा कि, स्त्री-पुरुषों के जिन भेदों के विषय में बहुत ही कम मत-भेद है, वे भेद भी ऐसे हैं कि प्रकृतिसिद्ध न होकर संयोगभेद से उत्पन्न हो सके हैं। हमें स्त्रियों के विषय में जो कुछ प्रत्यक्ष अनुभव है, उससे यदि कोई निश्चयात्मक अनुमान बाँधा जा सकता है तो वह यही कि, उनकी बुद्धि की प्रवृत्ति साधारण तौर पर व्यवहार की ओर अधिक है। पहले की स्त्रियों के और अब की स्त्रियों के विषय में इतिहास से जो कुछ ज्ञान हमें मिलता है, उससे भी इसी अनुमान की पुष्टि होती है। यदि किसी विशेष बुद्धि वाली स्त्री का दृष्टान्त लिया जाय और उसकी मानसिक शक्ति के झुकाव को तलाश किया जाय, तो विशेष करके यह शक्ति ऐसी होगी कि जो संसार के प्रत्यक्ष व्यवहार में अधिक उपयोगी होगी और इसलिए स्त्रियों की व्यावहारिक बातों की ओर ही अधिक प्रवृत्ति होगी। स्त्रियों की बुद्धि को जो प्राप्त-कालज्ञ अर्थात् उपजत-बुद्धि कहते हैं, वह क्या होती है? इसका अर्थ यही है कि, प्रत्यक्ष बात झटपट और स्पष्ट रीति से उनकी समझ में आ जाती है। सामान्य नियमों के साथ इसका कुछ भी

सम्बन्ध नहीं होता। सृष्टि के जो शास्त्रीय नियम निश्चित हुए है, वे क्या किसी प्रेरणाशक्ति से स्फुरित हुए हैं ? इस ही प्रकार कर्त्तव्य के विषय में तथा बुद्धिमत्ता और शिष्टाचार के नियम भी किसी मनुष्य की प्रेरणाशक्ति से सूझे हों, यह कभी नहीं हो सकता। इस प्रकार के जो-जो नियम निश्चित हुए है, वे बहुत दिनों का अनुभव एकत्र करके, तथा बहुत बातों की तुलना करके,बड़ी सावधानी और शान्तता से विचार करके निश्चित होते हैं। जिनकी प्रेरणाशक्ति सब से अधिक हो वे स्त्री पुरुष इस विषय में कभी आगे नहीं बढ़े। अपवाद केवल इतना ही है कि इन नियमों को निश्चित कर लेने के लिए जितने अनुभव की आवश्यकता होती है; वह यदि बाहरी सहायता के बिना पूरा मिल सका हो, तो उनके हाथ से भी ये नियम निश्चित हो सकते है—यह हो सकता है। क्योंकि उनकी प्रेरणाजन्य तीक्ष्ण बुद्धि के कारण स्वावलोकन के जो साधन उन्हें प्राप्त होते है उनसे सामान्य नियम बना लेने की योग्यता आती है, इसलिए जो स्त्रियाँ पुरुषों की तरह पठन-पाठन और शिक्षा के द्वारा लोगों का अनुभव प्राप्त करने में भाग्यशाली हो सकती है, (भाग्यशाली कहने का अभिप्राय यह है कि, संसार के बड़े-बड़े काम करने की योग्यता जिस शिक्षा या ज्ञान के द्वारा हो सकती है उस ज्ञान को स्त्रियाँ केवल आत्मशिक्षा से ही प्राप्त कर सकती है।) वे व्यवहारदक्षता का ज्ञान पुरुषों से कहीं अधिक पा सकती है।

जिन पुरुषों को हद दरजे की ऊँची तालीम दी जाती है उन्हें भी मौजूदा हालतों का ज्ञान कम होता है। जो बातें उन्हें इसलिए सौंपी जाती हैं कि वे उसके ठीक लक्ष्य पर पहुँचें, उन बातों का प्रत्यक्ष तत्त्व तो उन की आँखों के सामने बहुत ही कम आता है और उस तत्त्व के होने की जो शिक्षा उन्हें दी जाती है उसी पर वे जा पहुँचते हैं ; पर स्त्रियों के विषयमें यह बात बहुत ही कम घटती है। उन में जो प्रत्यक्ष स्वरूप को तत्काल भाँप जाने की शक्ति होती है—उस ही की कृपा से वे ऐसी भूलों से बचती हैं। जिनका अनुभव और बुद्धि समान हो ऐसे दो स्त्री-पुरुषों को चुना जाय—तो जो घटना प्रत्यक्ष रूप से उनके सामने घटित होगी, उसके वास्तविक स्वरूप को पुरुष की अपेक्षा स्त्री अधिक सरलता से समझ लेगी। अभी शास्त्रीय ज्ञान को एक ओर रख कर व्यवहार-ज्ञान पर ही विचार करें, तो वर्तमान काल की स्थिति का सच्चा प्रति-बिम्ब मन पर उत्कृष्ट रीति से अङ्कित होने का गुण ही अधिक उपयोगी मालूम होगा। सामान्य नियमों को निश्चित कर डालना काल्पनिक शक्ति का काम है। इस बात को खोज निकालना कि, यह नियम किन-किन बातों में लागू हो सकता है और किन किन में नहीं और इस विचार के अनुसार ही उसका संघटन करना व्यवहारदक्षता का काम है ; और इस काम के लिए स्त्रियों की वर्तमान स्थिति उन्हें विशेष योग्य बनाती है। इसे मैं स्वीकार करता हूँ कि, सामान्य

नियमों के समझे बिना आचार या व्यवहार से अच्छा फल नहीं प्रगट किया जा सकता, इस ही प्रकार स्त्रियों की शक्तियों में तीव्र ग्राहक-शक्ति या शीघ्रावलोकन के उत्कृष्ट होने से केवल अपने अनुभव पर निस्सीम भरोसा करके अनुमान बनाने में उनसे विशेष भूलें होनी अधिक सम्भव हैं—यह भी मुझे स्वीकार करना चाहिए। यद्यपि जैसे-जैसे उनका अनुभव बढ़ता जाता है वैसे ही वैसे वे भी अपने विचार बदलने के लिए तैयार होती जाती हैं। किन्तु स्त्रियों में जो यह दोष या न्यूनता है, यदि इसे हटाने की कोशिश की जाय तो यह किया जाय कि उनके लिए मनुष्य-जाति के अनुभव के दरवाज़े खोल दिये जायँ—अर्थात् ऐसे उपाय किये जायँ जिन से उनका सामान्य ज्ञान बढ़े—वे बहुश्रुत बनें। यह दोष शिक्षा के द्वारा टाला जा सकता है—यह कमी शिक्षा से पूरी हो सकती है। स्त्रियों के हाथों से जो भूलें होनी सम्भव हैं, वे उस ही प्रकार की होंगी जैसी एक होशियार और आत्मशिक्षित पुरुष से होनी सम्भव हैं। एक ही स्थिति या परिपाटी में पड़ा हुआ मनुष्य जिन बातों को नहीं समझ सकता, उन बातों को स्त्रियां सरलता-पूर्वक समझ लेती हैं, पर जिन बातों का ज्ञान संसार को एक अर्से पहले से मिल जाता है उन बातों से अनजान होने के कारण उनके हाथ से ग़लतियां होती हैं। जैसे पहले बहुत से ज्ञान का अनुभव उसे हो जाता है, क्योंकि यदि यह भी न हो तो वह

आगे बढ़ ही नहीं सकता; पर वह ज्ञान क्रमबद्ध नहीं होता, बल्कि अव्यवस्थित और टुकड़े-टुकड़े होता है। स्त्रियों का ज्ञान भी इस ही प्रकार अव्यवस्थित—बेसिलसिले का होता है।

८—किन्तु एक ओर स्त्रियों की प्रत्यक्ष दृष्टि की प्रवृत्ति के कारण जो ग़लतियाँ होनी सम्भव हैं, दूसरी ओर इस प्रवृत्ति के न होने पर जिस प्रकार की भूलें हो सकती हैं, उन्हें रोकने के लिए यह प्रवृत्ति ढाल का काम देती है। जिन व्यक्तियों में कल्पनावृत्ति की विशेषता: होती है उन में सब से बड़ी कमी यह होती है कि झटपट प्रतीति कराने के लिए शीघ्रावलोकन-शक्ति उन में कम होती है। इस कमी के कारण, किसी भी महत्त्व के प्रश्न के विषय में वे जो कल्पना करते हैं, वह प्रत्यक्ष बातों की विरोधिनी होने पर भी, उस विरोध का यथार्थ ज्ञान उन्हें नहीं होता। इतना ही नहीं, बल्कि बहुत बार तो वे तत्त्वचिन्तन के मुख्य उद्देश को भी भूल जाते हैं, इसलिये उन की कल्पना-शक्ति पर किसी प्रकार का दबाव ही नहीं रहता, और वे ऐसे प्रदेशों में भ्रमण करने लगते हैं जहाँ सजीव या निर्जीव किसी भी प्रकार की कल्पित सृष्टि नहीं बसती; किन्तु जहाँ केवल अध्यात्मशास्त्र के भ्रान्तियुक्त सिद्धान्तों की सहायता से या केवल शब्द-जाल के गूँथने से उत्पन्न हुए मूर्तिमान् छायामय प्राणी निवास करते हैं। उनकी कल्पनाशक्ति ऐसी छायामय कल्पित सृष्टि को ही

अत्यन्त उदास और महत्त्व के तत्त्वचिन्तन का योग्य विषय समझती है। जो अध्ययनशील मनुष्य अनुभव और अवलोकन के द्वारा केवल ज्ञान का सम्पादन करने में लगा रहे, और इस प्रकार प्राप्त हुए ज्ञान पर बड़े-बड़े व्यापक प्रभेद पैदा करके शास्त्रीय सत्य या आचार के नियम निश्चित करने के काम में प्रवृत्त होना चाहता हो—और इसे यह वास्तविक बुद्धि-सम्पन्न स्त्री की देख-रेख या सलाह से करे, तो उसे विशेष लाभ होना सम्भव है। उसके ऊपर उड़ते हुए विचारों को प्रत्यक्ष प्रदेश में तथा संसार में वास्तविक रीति से घटने वाली मर्यादा के भीतर रखने का इससे अच्छा साधन और कोई नहीं हो सकता। क्योंकि केवल कल्पित सृष्टि पर ही रीझने वाली स्त्री भाग्य से ही खोजे मिलेगी। स्त्री के मन का झुकाव सब वर्गों की अपेक्षा नीचे वर्ग पर अधिक होता है, और उनके चित्त वर्तमान क्रिया या मनोवृत्ति को विशेष सोचते हैं, इसलिए जब कोई प्रत्यक्ष व्यवहार में प्रचलित करने योग्य बात उनके सामने आती है तब वे सब से पहले यह विचार करती हैं कि, इसके प्रचलित होने पर लोगों की दशा क्या होगी। इन दोनों गुणों के कारण, जिस कल्पना या व्यवस्था में वास्तविक व्यक्ति का सम्बन्ध नहीं माना गया है, जिस में सजीव प्राणियों के अन्तर्गत मनोभावों का विचार नहीं किया गया, और जिस वस्तुमात्र की स्थिति केवल एक-आध कल्पित प्राणी या व्यक्ति समुदाय का हित लक्ष्य में रख कर बनाई गई हो, जो

दीवार ऐसी ही समझ की नींव पर उठाई गई हो—तो केवल ऐसी मानसिक सृष्टि पर स्त्रियों को बिल्कुल विश्वास नहीं होता। इससे स्त्रियों के विचारों को अधिक उदार और विशाल बनाने के लिए पुरुषों के विचार जितने उपयोगी हैं, उतने ही उपयोगी स्त्रियों के विचार तत्त्वचिन्तन में लीन होने वाले पुरुषों के विचारों को व्यवहारोपयोगी बनाने में हैं। जब विचारों की गम्भीरता के विषय में विचार करते हैं, तब पुरुषों की समानता में स्त्रियाँ कम हैं—इस में सन्देह है—अर्थात् विचार-गाम्भीर्य में स्त्रियाँ पुरुषों से कम नहीं है।

१०—इस प्रकार विमर्श या तत्त्वचिन्तन में जैसे स्त्रियों के मानसिक विशेष गुण उनके सहायक हो सकते हैं, वैसे ही चिन्तन के परिणाम में जो सिद्धान्त निश्चित होते है उन्हें व्यवहार में लाते समय भी स्त्रियों के ऊपर कहे हुए विशेष गुण उन्हें पूरी सहायता देते हैं। क्योंकि इस विषय में पुरुषों के हाथों से जिन भूलों का होना सम्भव है, वे भूलें ऊपर कहे हुए विशेष गुणों के कारण स्त्रियों से बहुत कम होनी सम्भव हैं। ऐसे प्रसङ्ग पर एक ही मार्ग का अनुसरण नहीं किया जाता। किसी भी साधारण नियम को किसी विषय पर प्रचलित करने से पहले, उसकी ख़ास बातें बारीकी से जाँची जाती हैं, या ख़ास प्रसङ्गों पर नियम में लौटफेर करना पड़ता है। और ऊपर बताये हुए गुणों के कारण किसी बात में पैर बढ़ाने से पहले आस-पास के संयोगों पर विचार करने की

आदत स्त्रियों को अधिक मालूम होती है। अब, एक दूसरे गुण में जो स्त्रियाँ पुरुषों से अधिक समझी जाती हैं, वह गुण पदार्थ की वास्तविक स्थिति को झटपट समझ जाना है। संसार में अपना पैर आगे बढ़ाने के लिए क्या यह गुण अत्यन्त आवश्यक नहीं है? कोई प्रसङ्ग प्राप्त होने पर झटपट उसे समझ कर निर्णय कर डालना, संसार में सफलता का पहला आधार है। तत्त्वचिन्ता के काम में इस गुण की विशेष आवश्यकता नहीं पड़ती। जिसे केवल चिन्तन या मन का काम करना पड़ता है, वह यदि अपने अन्तिम निर्णय पर पहुँचने से पहले विचार के लिए समय माँगे—तो यह हो सकता है; यदि प्रमाण देने के लिए वह कुछ ठहरना चाहे तो उसे बहुत समय मिल सकता है; वह समय की डोर से बँधा नहीं होता कि, अमुक समय तक उसे अपनी मीमांसा पूरी कर ही डालनी चाहिए। प्राप्त अवसर को खो दूँगा तो पछताना पड़ेगा, और प्रारम्भ किया हुआ काम फिर पूरा न कर सकूँगा—ऐसी चिन्ता से उसका पाला ही नहीं पड़ता। हाँ, यह अवश्य है कि जितने प्रमाण हाथ लग सके हों, उनके द्वारा उत्तम से उत्तम सिद्धान्त जितना पुष्ट किया जा सकता है, वह उसे कर देगा। जितनी जानकारी या प्रमाण मालूम हो सके हों, उतनों ही से काम-चलाऊ उपपत्ति या सिद्धान्त बना लेने से—उस विषय की अधिक खोज करने का काम बहुत कुछ सरल हो जाता है—और बहुत से अवसरों पर तो

ऐसा करने की आवश्यकता ही होती है। किन्तु यह तो निश्चित है कि इस प्रकार की शक्ति या यह गुण-चिन्तन की योग्यता का प्रधान अङ्ग नहीं है, बल्कि सहायक है। तत्त्व-चिन्तन के मुख्य कार्य के विषय में तथा उसके सहायभूत गौण कार्यों के सम्बन्ध में, तत्त्वचिन्तक जितना समय लेना चाहे उतना लेने की उसे पूरी आज़ादी है। उसे जो कुछ करना होता है उस में जल्दी या घबराहट का कोई कारण ही नहीं होता—इसके विरुद्ध उसे धैर्य और शान्ति की विशेष ज़रूरत होती है। जिस विषय को वह उठाता है उसके प्रत्येक अङ्ग पर जब तक प्रकाश न पड़े तब तक उसे उसकी राह देखनी पड़ती है—अधूरे ज्ञान पर वह जो तर्क करता है, उसे जब तक सिद्धान्त की योग्यता प्राप्त नहीं होती तब तक स्वस्थचित्त से उस में ही लगा रहना पड़ता है। दूसरी ओर, जिनका काम नित्य के व्यवहार से पड़ता है—जिन्हें अनित्य और अल्प बातों से लाभ उठाना पड़ता है—ऐसे मनुष्यों के लिए झटपट निर्णय पर पहुँचाने वाली बुद्धि की अधिक आवश्यकता है—बल्कि इसके विषय में यदि यह कहा जाय कि, यह विचारशक्ति के समान ही उपयोगी है तब भी कोई हानि नहीं। जिस व्यक्ति की बुद्धि प्रसङ्ग आते ही झटपट काम करने योग्य नहीं बन जाती, वह निकम्मी सी ही है। वे यदि किसी की टीका-टिप्पणी या समालोचना करना चाहें तो तो भले ही कर सकें, पर किसी काम को करके दिखा देने

की योग्यता उन में नहीं होती। इस गुण में सम्पूर्ण स्त्री-वर्ग और स्त्रियों के समान स्वभाव वाले कितने ही पुरुष—अन्य पुरुषों से विशेष हैं। जिन पुरुषों में यह गुण नहीं होता, उनकी अन्य शक्तियाँ चाहे जैसी अपूर्व या अलौकिक हों, पर उन पर पूरा कब्ज़ा तो थोड़े अनुभव के बाद ही कर सकते है। जिन बातों के विषय में वे पूरी जानकारी रखते है उन बातो के विषय में भी सच्चे और बुद्धिमत्ता से भरे हुए निर्णय पर पहुँचने में उन्हें अधिक समय लगता है। किसी काम को झटपट कर डालने की आदत उन में एक अर्से के बाद और लम्बे प्रयास के अन्त में आती है।

११—अब सम्भवतः बहुतों का यह प्रश्न होगा कि, स्त्रियों के हृदय कोमल और तात्कालिक घटना की ओर विशेष झुकने वाले होते हैं—इसलिए स्वाभाविक रीति से घरेलू काम-काजों को छोड़ कर बाक़ी के लिए वे अयोग्य है। उनके मन बहुत चञ्चल होते है, उनके निश्चय घड़ी-घडी में बदलते हैं, जो बात उनके मन में जम जाती है उस पर हठ किये रहती है—निश्चय-पूर्व्वक किसी काम को पकड़ने की दृढ़ता उन में नहीं होती, उनकी बुद्धि के अस्थिर होने के कारण उनकी मानसिक शक्ति के व्यापार अनिश्चित और अस्थिर होते है। जब बड़ी-बडी ज़िम्मेदारियो और महत्त्व के कामों के अयोग्य स्त्रियों को बताया जाता है, और उनकी अयोग्यता सिद्ध करने के लिए कारण दिये जाते है—तब वे ऐसे ही होते है जैसे हम

ऊपर लिख चुके हैं। इस दोष का सच्चा रूप तलाश करेंगे तो मालूम होगा कि, बहुत से अंशों में तो स्त्रियों की कार्य्य-शक्ति योग्य क्षेत्र न मिलने के कारण व्यर्थ चली जाती है, इस ही लिए उन में कुछ दोष उत्पन्न हो जाते हैं, और यदि वह कार्य्यशक्ति अपने योग्य कार्य्य में लगाई जाय, तो वे दोष नष्ट हो जायँगे। कुछ दोष तो अनजान-पन से और कुछ इरादतन जान-बूझ कर बढ़ाये जाते हैं। उदाहरण के तौर पर; वाही-तबाही बकना, भूत-प्रेत का सिर पर चढ़ कर बोलना आदि रोग एक ज़माने में स्त्रियों पर अधिक देखे जाते थे। पर ऐसी हालत में जो इज़्ज़त समझी जाती थी वह जब कम होगई तब यह रोग भी नहीं रहा। अब इसका भी विचार करना है कि उक्त वर्ण वाली स्त्रियाँ कैसी स्थिति में बड़ी होती हैं और उन्हें किस प्रकार अपना जीवन बिताना पड़ता है। बाग़ में लगाये हुए नाज़ुक पौधे की तरह उन्हें शुद्ध और खुली हवा कभी नसीब नहीं होती, इसलिए उनकी शारीरिक प्रकृति सर्व्वथा नीरोग नहीं रहती। उन्हें इस प्रकार के उद्योग-धन्धे या कसरत के खेलों की मनाही होती है जिनसे ख़ून बदन में चक्कर मारे और स्नायु मज़बूत हों तथा उनके मनोविकार अस्वाभाविक रीति से जाग्रत रक्खे जाते हैं। इन अनेक कारणों से स्त्रियाँ प्रायः क्षयरोग को शिकार बनकर मौत का निवाला बनती हैं, और जो इससे बच जाती हैं उनके शरीर और मन इतने कोमल और नाज़ुक

हो जाती हैं कि छोटे-छोटे कारणों के असर से भी उन में विकार पैदा हो जाता है—तथा ऐसे काम जिन में दीर्घकाल तक मन और शरीर लगाने की आवश्यकता होती है, ऐसी शारीरिक या मानसिक शक्ति उन में शेष नहीं रहती। किन्तु जिन स्त्रियों को अपने उदर-निर्व्वाह के लिए मिहनत-मजदूरी करनी पड़ती है उन में ऐसी कमज़ोरी बहुत कम देखी जाती है। यह विकार उन में भी प्रविष्ट हो जाता है जिन्हें एक अनारोग्य स्थान पर बैठे-बैठे विवशता में काम करना पड़ता है। जिन स्त्रियों को छुटपन से अपने भाइयों के समान आरोग्यवर्धक व्यायाम और खुली हवा में घूमने-फिरने का लाभ मिलता है, और पीछे से भी जिन्हें स्वच्छ हवा और आवश्यकता के अनुसार शारीरिक व्यायाम करने का अवसर मिलता रहे—वे स्त्रियाँ शारीरिक या मानसिक परिश्रम की योग्यता नहीं खो बैठतीं—तथा ऊपर वाले दोष भी उन में नहीं आते। यह ठीक है कि स्त्रियों तथा पुरुषों में बहुतों की शारीरिक गठन ही इस प्रकार की होती है कि उनका मन बड़ी सरलता से झटपट विकार के अधीन हो जाता है, और इस प्रकार की मानसिक दुर्बलता उन पर बहुत बड़ा असर करती है। शारीरिक विशेष रोग के अनुसार यह दोष भी सन्तान प्रति सन्तान पीढ़ियों तक जाता है और कन्या तथा लड़के में समान रूप से उतरता है; यह भी हो सकता है कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में विशेष हो। मैं इसे स्वीकार कर रखता हूँ

कि, ऐसी प्रकृति वाली स्त्रियों की संख्या पुरुषों की संख्या से कहीं अधिक है ; पर साथ ही इस विषय में, मैं यह प्रश्न भी करता हूँ कि क्या ऐसी पित्त-प्रकृति वाले पुरुष, पुरुष-वर्ग के करने योग्य कामों के अयोग्य समझे जाते है ? यदि वे अयोग्य न समझे जाते हों तो उसी प्रकृति वाली स्त्रियाँ क्यों अयोग्य समझी जाती है ? यह ठीक है कि, बहुत से धन्धों में अधिकांश यह प्रकृति अयोग्य होती है—पर साथ ही यह भी निश्चित है कि बहुत से धन्धों में यही प्रकृति विशेष उपयोगी भी होती है। इस के साथ ही यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि, इस प्रकृति वाले मनुष्य जिस काम में लगे होते है—फिर वह चाहे उनकी प्रकृति के अनुकूल हो या प्रतिकूल पर हमारे देखने में ऐसे बहुत से उदाहरण आते हैं जिन में उन्हें पूरी सफलता हुई है। अन्य शान्त और सतोगुणी प्रकृति वाले मनुष्यों की अपेक्षा ऐसे मनुष्यों में आवेश अधिक होता है, जब वे आवेश में होते हैं तब उनकी शक्ति कई गुणी अधिक दीप्त हो उठती है और उस समय उन्हें अपनी भी याद भूल जाती है—और इसलिए स्वस्थ दशा में जो काम उन के हाथ से नहीं हो सकते, उन्हें आवेश की दशा में वे सरलतापूर्व्वक कर डालते है। फिर यह आवेश या प्रोत्साहक गुण क्षणिक नहीं होता—यह गुण ऐसा नहीं होता कि बिजली की तरह चमक कर लोप हो जाय और फिर कुछ रहे ही नहीं। तामसी और पित्त-प्रकृति वाले मनुष्यों का स्वभाव

ही ऐसा होता है कि एक बार वे जी लगा कर जिस काम में लग जाते हैं—फिर उसे पूरा करने तक समान भाव से वैसे ही लगे रहते हैं। व्यवहार में लोग जिसे "पानी" कहते हैं, यह वही-गुण है। घुड़-दौड़ में शर्त जीतने वाले "पानीदार" घोड़े कमर या पैर के टूटने तक समान वेग से भागे चले जाते हैं—वे इसी गुण के कारण। कमज़ोर और नाजुक स्त्रियों पर अत्याचार किया जाता है, उन पर शारीरिक और मानसिक सङ्कटों की बौछार होती रहती है, और अन्त में सिसका-सिसका कर बेरहमी से उनकी जान ली जाती है—पर वे अपने दृढ़ निश्चय को नहीं छोड़तीं और हजार आपत्ति सह कर भी अपनी मर्य्यादा भङ्ग नहीं होने देतीं—यह इस ही गुण के कारण। यह स्पष्ट है कि, इस प्रकृति वाले व्यक्ति मनुष्य-समाज के उच्च अधिकार भोगने योग्य हैं। इस प्रकृति वालों में बड़े-बड़े व्याख्यानदाता, लेखक, धर्म्मोपदेशक, तथा लोगों के अन्तःकरण पर उत्कृष्ट चरित्र की मुहर लगा देने वाले व्यक्ति अधिक निकलने सम्भव हैं। सम्भवतः, कोई यह समझता होगा कि, इस प्रकृति वाले व्यक्तियों में न्यायाधीश या मन्त्री आदि के गुण कम होते होंगे; किन्तु यह मानने का कारण उन्हीं व्यक्तियों के विषय में हो सकता है जो हर समय आवेश ही आवेश में रहते हों—किन्तु इस प्रकृति को किसी इष्ट दिशा की ओर झुका देना शिक्षा का काम है। जिनके मनोविकार तीव्र और वेगशाली होते हैं उनका आत्म-

संयम भी दृढ़ होता है—अर्थात् आत्मनिग्रह के काम में भी वे वीर होते हैं, पर मैं ऊपर जो कुछ कह आया हूँ वैसा मार्ग उन्हें मिलना चाहिए। उन्हें आत्मनिग्रह की शिक्षा मिलनी चाहिए। यदि उन्हें यह शिक्षा मिले तो मन में आते ही वे उस काम को एकदम कर डालने वाली प्रकृति के होते हैं, और आत्मनिग्रह के काम में भी वे पूर्ण रीति से चमक उठते हैं। पिछले इतिहास और हमारे अनुभव से यह सिद्ध होता है कि, जिनके मनोविकार अत्यन्त प्रबल और तीव्र होते हैं, उन्हें जिस ओर झुका दिया जायगा—उस ही कर्त्तव्य-पालन में वे आमरण दृढ़ता से लगे रहेंगे। किसी काम में न्यायाधीश का झुकाव एक ओर हो जाने पर भी—फिर जो वह बराबर तुला हुआ फ़ैसला करता है तो उसी आत्म संयम और दृढ़ निश्चय से—उसकी न्यायबुद्धि को बारम्बार दृढ़ बनाने में उत्तेजना मिलती है, और इसलिए मनोजय करने वाली उसकी शक्ति बलवान् होती जाती है। जिस प्रासङ्गिक उदात्त उल्लासवृत्ति के कारण मनुष्य एक समय में अपना वास्तविक स्वभाव भूल जाता है, वह उल्लास-वृत्ति उसके स्वभाव पर विशेष असर किये बिना नहीं रहती। प्रसङ्ग के अनुसार जो इस प्रकार की स्थिति हो जाती है, तथा इस स्थिति में अपनी महत्त्वाकाङ्क्षा और अपनी सामर्थ्य का जो अनुभव होता है—उस के साथ ही वह अपने अन्य समय के विचार और बर्ताव की समानता करके देखता है—और इस को ही अनुकरण

करने के योग्य समझता है। यदि मनुष्य-जाति की शारीरिक रचना का विचार करें तो यह उत्साह और यह उल्लास वृत्ति चणिक ही मालूम होगी, किन्तु ऐसे उत्साह के अवसरों पर उन में जिन उच्च विचारों का सञ्चार होता है, उनके अनुसार ही अपनी टेव बना कर सदा बरतने की इच्छा होती है।

ख़ास व्यक्तियों के तथा समग्र प्रजा के अनुभव को यदि ध्यान में रक्खेंगे तो इस अनुमान को पुष्टि मिलेगी कि, जो मनुष्य आवेश के वश में होजाने वाली प्रकृति के होते हैं वे विचार करने योग्य तथा व्यावहारिक कामों में भिन्न प्रकृति वाले मनुष्यों की अपेचा अयोग्य नहीं होते। फ्रेञ्च और इटालियन लोग स्वभाव से ही ट्यूटॉनिक प्रजा से विशेष चञ्चल और रजो-गुण-विशिष्ट प्रकृति वाले होते है। और फिर अँगरेज़ों के साथ उनका मुक़ाबिला करते हुए तो उनके जीवन-क्रम पर मनो-विकारों का असर बहुत अधिक जान पड़ता है। पर इससे क्या वे शास्त्रीय खोज के काम में, न्याय और क़ानून के काम में, सार्वजनिक और युद्ध-सम्बन्धी कामकाज में, किसी प्रकार अँगरेज़ों से कम मालूम होते हैं? इस ही प्रकार प्राचीन यूनानी भी अपने वंशजों ही के समान आवेश वाले थे—इसके बहुत से प्रमाण हैं। पर मनुष्य-जाति जिन-जिन बातों में आगे बढ़ी, उन सब में यूनानियों ने पहला स्थान लिया—इसके सिद्ध करने की आवश्यकता ही नहीं है। योरप के दक्षिण प्रान्त में रहने वाले यूनानी भी इस ही प्रकृति वाले

थे। पर उन्हें जैसी राष्ट्रीय शिक्षा मिलती थी, उसके अनुसार सौम्य प्रकृति वाले न बन कर वे स्पार्टन लोगों के समान कड़े थे, इसलिए उनके राजनैतिक गुण भिन्न प्रकार के ही बन गये थे। उनकी स्वाभाविक तीव्रता को पीछे से शिक्षा के संयोग के कारण जो मार्ग मिला था, उससे उनका वास्तविक स्वभाव मालूम होता था। आवेश वाली प्रकृति के लोगों को कैसा बनाया जा सकता है, यह ऊपर वाले उदाहरण से अधिक स्पष्ट होता है; किन्तु इस प्रकृति वालों को यदि किसी प्रकार का झुकाव न दिया जाय तो वे कैसे रहें इसका उदाहरण आयरिश और केल्ट लोगों से समझा जा सकता है। (किन्तु ये लोग भी अपनी मूल स्थिति में रहे हैं या नहीं, इस में भी सन्देह है। क्योंकि हज़ारों वर्ष के दुष्ट राज-व्यवहार के परोक्ष असर के कारण, तथा कैथोलिक सम्प्रदाय की विशेष श्रद्धा और उसके धर्मोपदेशकों के असर के कारण,उनकी वास्तविक प्रकृति में लौट-फेर न हुआ हो, यह हो नहीं सकता।) इसलिए आयरिश लोगों का उदाहरण योग्य न समझना चाहिए। फिर भी ख़ास-खास व्यक्तियों ने अनुकूल अवसरों पर अपने जैसे उच्च विचार प्रकट किये हैं, वैसे विचार क्या और भी किसी प्रजा ने व्यक्त किये है? फ्रेञ्च लोगों की तुलना अँगरेज़ों के साथ की जाय, आयरिश लोगों की स्विस लोगों से की जाय, यूनानी और इटालियन लोगों की जर्मन लोगों से की जाय—तो मालूम होगा कि दोनों समान रीति

से एक काम को करने के योग्य हैं—केवल किसी-किसी काम में कोई-कोई मनुष्य ही विशेष प्रवीण होता है। इस ही प्रकार स्त्रियों का मुकाबिला यदि पुरुषों से किया जायगा तो एक काम के लिए दोनों समान योग्यता वाले प्रतीत होंगे; और जैसा सदैव हुआ करता है वैसे ही कुछ कामों में कुछ व्यक्ति विशेष प्रवीण निकल आवेंगी। किन्तु स्त्रियों को आज तक जो शिक्षा दी गई है, इस कारण, और उनकी शारीरिक बनावट के कारण, पैदा होने वाले मूल दोष और भी अधिक दृढ़ और सबल हो गये हैं; यदि अब उस शिक्षा के बदले उन्हें इस प्रकार की शिक्षा दी जाय कि जिसके कारण उनके मूल दोष दृढ़ होने के बदले मिटते जायँ, तो निस्सन्देह स्त्रियां भी पुरुषों के समान दृढ़ता और होशियारी से काम कर सकेंगी।

१२—फिर भी यदि हम मान लें कि स्त्रियों के मन पुरुषों की अपेक्षा अधिक चञ्चल होते हैं, दीर्घकाल तक एक ही काम के पीछे पड़ कर उसे पूरा कर डालने का दृढ़ निश्चय उन में नहीं होता, तथा उनकी बुद्धि केवल एक मार्ग का अवलम्बन करके उसकी चर्मसीमा तक पहुँचने की अपेक्षा बीच में ही इधर-उधर झुक जाने वाली होती है; तो प्रस्तुत काल की स्त्रियों पर चाहे यह उक्ति पूर्ण रूप से घटती हो। (यद्यपि इस में भी अपवाद के बहुत से उदाहरण निकलते हैं) जिन विषयों में मन को एक ही विचार और एक ही प्रवृत्ति

में रखने की आवश्यकता होती है, उन विषयों में स्त्रियों का पुरुषों से कम रह जाना भी इन्हीं कारणों से होगा—इसका कारण भी यही हो सकता है। फिर भी यह भेद उत्कृष्टता का बाधक तो नहीं हो सकता। इसका परिणाम यही होता है कि अमुक विषय में स्त्रियाँ पुरुषों के समान प्रभावित नहीं होतीं ; पर इससे यह सिद्धान्त नहीं निकलता कि स्त्रियाँ किसी भी बात में पुरुषों की बराबरी नहीं कर सकतीं— इससे यह सिद्ध नहीं होता कि स्त्रियाँ पुरुषों के समान बुद्धि-शालिनी नहीं हैं,—तथा इससे यह भी सिद्ध नहीं होता कि व्यवहार में उनकी बुद्धि का उपयोग कम होता है। बल्कि, मानसिक शक्तियों से अन्य काम न लेकर उन्हें एक ही ओर झुका देना—समग्र विचार-शक्ति को एक ही विषय में लीन कर देना—एक ही काम में एकाग्र कर देना ; मानुषी शक्तियों के लिए कितना हितकर और स्वयंसिद्ध है, सो बताना अभी बाकी है। बुद्धि की एकाग्रता के विषय में मेरा मत है कि, एकाग्रता की आदत के द्वारा बुद्धि का एक विशिष्ट विकाश करने से एक ओर जितना लाभ होता है ; दूसरी ओर उतनी ही हानि होती है। क्योंकि एक काम को छोड़ कर संसार के और कामों के योग्य उसकी बुद्धि नहीं रहती। और विमर्श या तत्त्वचिन्तन के विषय में मेरी राय है कि किसी गूढ़ प्रश्न पर निरन्तर अस्खलित रीति से विचार करने की अपेक्षा, बीच-बीच में विश्राम लेते हुए, या अन्य कामों को देख कर फिर

उस प्रश्न को हाथ में लेने से अधिक काम होता है। छोटे-मोटे सांसारिक व्यवहारों पर विचार करने से, बुद्धि का बहता हुआ प्रबल वेग मन्द पड़ जाता है और एक विषय से झट पलट कर दूसरे विषय में मन लगाने की शक्ति पैदा होती है— यह गुण बहुत ही कीमती है। स्त्रियों का मन चञ्चल होने के कारण उन्हें दोष दिया जाता है, किन्तु इस दोष के ही कारण उन में ऊपर वाला गुण विशेष होता है। सम्भवतः, यह शक्ति उन में स्वभावसिद्ध होगी, किन्तु यह तो निश्चित है कि शिक्षा और अभ्यास की सहायता से उन में यह शक्ति आई है। क्योंकि लगभग स्त्रियों के सभी व्यवसाय ऐसे हैं कि उन्हें छोटी-मोटी किन्तु विविध प्रकार की बातों की देख-रेख रखनी पड़ती है। इसलिए स्वतन्त्र विचार करने के लिए उन्हें एक पल भी नहीं मिलता—और इसके विरुद्ध एक ही समय में अनेक बातों का ख़याल रखना पड़ता है। यदि किसी विषय पर अधिक समय तक विचार करने की आवश्यकता ही होती है तो विविध कामों से समय काटकूट कर वे उस पर विचार कर ही लेती हैं। बहुत बार तो ऐसे संयोग इकट्ठे हो जाते हैं, और काम की इतनी मारामारी होती है कि विचार करने के लिए जरा भी अवकाश नहीं होता; यदि कोई पुरुष ऐसी स्थिति में फँस जाय तो वह काम बिगाड़ कर यही कहे कि,—"मैं क्या करूँ, मुझे विचार करने की फुरसत ही नहीं मिली।" किन्तु ऐसी स्थितियों

में भी स्त्रियों ने विचार कर लिया है—ऐसे बहुत से उदाहरण हमारे सुनने में आते हैं। पुरुष जिस को करता है और जब उससे फुरसत पाता है तब उसका मन विश्राम करता है अर्थात् शून्य रहता है—किन्तु स्त्री का मन किसी समय विश्राम नहीं करता। किसी न किसी छोटी-मोटी बात के ही विचार में उसका मन लगा रहता है। यदि स्त्रियों का धन्धा देखेंगी तो यही होगा कि, एक समय में उन्हें अनेक बातों की ख़बरगीरी करनी पड़ती है; इसलिए जैसे सांसारिक व्यवहार किसी समय नहीं रुकते वैसे ही स्त्रियों का मन भी कभी ख़ाली नहीं रहता।

१३—बहुतों का कहना यह भी है कि पुरुषों में स्त्रियों की अपेक्षा बुद्धि अधिक होती है, इसे शरीर-शास्त्र के द्वारा भी सिद्ध किया जाता है—पुरुषों के मस्तिष्क स्त्रियों के मस्तिष्कों से बड़े होते हैं। इस विषय में सब से पहले तो मेरा कहना यही है कि, यह बात ही सन्देह-युक्त है। अभी तक इस बात का पूर्णरूप से निश्चय नहीं हुआ कि स्त्रियों के मस्तिष्क पुरुषों के मस्तिष्क से छोटे होते ही हैं। यदि यह अनुमान इस बात पर बांधा गया हो कि स्त्रियों के शरीर पुरुषों के शरीर से कुछ छोटे होते हैं, तो इस मार्ग से चलने पर तो इसका परिणाम बहुत ही विचित्र होगा। इस नियम के अनुसार लम्बे-चौड़े शरीर वाले लम्बे-पूरे आदमी छोटे शरीर वाले आदमियों से ज़ियादा अक़्लमन्द होने चाहिएँ; और हाथी, मगर-मच्छ या व्हेल मछली अक़्लमन्दी में सब

मनुष्यों से अधिक होनी चाहिए!! शरीर-शास्त्र का ज्ञान रखने वालो का कहना है कि न्यारे-न्यारे आदमियों के शरीर और सिर में जितना अन्तर दीखता है उसकी अपेक्षा मस्तिष्क में बहुत ही कम अन्तर है, और इसलिए ऊपर के क़द को देख कर उसका अनुमान किसी प्रकार नहीं निकाला जा सकता। बहुत सी स्त्रियों के सिर पुरुषों के सिरों के बराबर होते हैं। एक खोजी मनुष्य ने बहुत से मनुष्यों के सिर तौल कर देखे थे, उसने मुझ से कहा था कि बहुत सी स्त्रियों के सिर कुवीयर * के सिर से भी कहीं अधिक वज़नी है। फिर यह बात भी विचारने योग्य है कि, मस्तिष्क और बुद्धि में क्या सम्बन्ध है यह आज तक स्पष्ट नहीं हुआ—इस विषय में बहुत मतभेद है। हां, इस बात से कोई नाँहीं नहीं कर सकता कि, बुद्धि और मस्तिष्क का सम्बन्ध नहीं है। मस्तिष्क विचार और बुद्धि की इन्द्रिय है। मस्तिष्क के भिन्न-भिन्न भागों का भिन्न-भिन्न मानसिक शक्तियों के साथ कैसा सम्बन्ध है, इस वादग्रस्त विषय को यदि एक ओर रख दें तो यह तो स्वीकार करना ही चाहिए कि इन्द्रिय के आकार और

---

* कुवीयर (Cuvier) नामक प्रसिद्ध प्राणि-शास्त्र-वेत्ता फ्रान्स देश में हुआ है। इसका समय अब से पचास वर्ष पूर्व है। इसके मस्तिष्क का वजन ६४ औन्स से कुछ अधिक था। प्राय पुरुषों के मस्तिष्क का वजन ५० औन्स होता है। वह मरते समय लिख गया था कि, मेरा सिर विद्वान् लोग अपनी परीक्षा के काम में लावें।

उसके द्वारा होने वाले कामों में नित्य सम्बन्ध है—क्योंकि जैसा उत्पत्ति-स्थान बड़ा वैसे ही उस में से उत्पन्न होने वाली शक्तियों का समुदाय भी बड़ा न होगा—यह अनहोनी सी मालूम होती है—इस बात का कहना जीवन-शक्ति और इन्द्रिय-रचना के विषय में सामान्य नियमों के ज्ञान को भुला देने के समान है। फिर यह भी निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता कि इन्द्रिय की शक्ति उसके आकार पर अवलम्बित है। प्रकृति की सम्पूर्ण रचना में सजीव सृष्टि सब से अधिक नाज़ुक है और उस में भी ज्ञान-तन्तुओं की कृति तो अत्यन्त सूक्ष्म है। प्रकृति की कृतियों के सम्पूर्ण-सूक्ष्म व्यापारों में यह एक निश्चित नियम मालूम होता है कि, भिन्न-भिन्न इन्द्रियों के व्यापार से उत्पन्न होने वाले परिणाम में जो भेद होता है, वह जितना इन्द्रिय के आकार पर अवलम्बित है उतना ही उस इन्द्रिय की रचना पर भी अवलम्बित है। यदि किसी यन्त्र की रचना उसके बड़े आकार पर न समझी जाकर उसके कार्य्य की सूक्ष्मता और सुन्दरता पर समझी जाय—यदि यह नियम सत्य हो, तो स्त्रियों के मस्तिष्क पुरुषों के मस्तिष्क से अधिक सूक्ष्म होने चाहिएँ—यह स्पष्ट है। इन्द्रिय-रचना के भेद को निश्चित करने का काम महा कठिन है, इसलिए इसे छोड़ते हैं; पर इन्द्रिय की कार्य्यशक्ति का आधार जितना उसके आकार पर होता है, उतना ही उसकी चपलता पर भी होता है—और इस चपलता को निश्चित करने का काम उससे

सरल है। इसका आधार उस इन्द्रिय में होकर ख़ून के वेग से बहने पर है, क्योंकि इन्द्रिय को वेग देने वाली और इसे फिर से पूर्व्व-स्थिति पर पहुँचाने वाली शक्ति विशेष करके ख़ून की चाल पर अवलम्बित है। केवल मस्तिष्क के बड़ेपन को देखेंगे तो पुरुष ऊँचे है, और मस्तिष्क के भीतर ख़ून के बहने की चपलता के विषय में स्त्रियाँ बडी है—इस में अचम्भे की कोई बात नहीं है, क्योंकि स्त्री और पुरुष के मानसिक व्यापार में आज तक जो अन्तर देखा गया है, उसका सारांश इस अनुमान से निकल आता है। दोनों के मस्तिष्क की रचना में इस प्रकार का भेद होने के कारण उनके मानसिक व्यापार में जिस भिन्नता के होने का अनुमान हम करते हैं, वह अनुमान अनेक प्रत्यक्ष भेदों के साथ मिलता है। हमारे पहले अनुमान के अनुसार पुरुषों का मानसिक व्यापार विशेष मन्दगति वाला होना चाहिए। विचार करने में स्त्रियाँ जितनी शीघ्रता कर जाती हैं उतनी शीघ्रता की पुरुषों से हमें उम्मीद नहीं। सुख-दुख का स्पर्श स्त्रियों के मन पर शीघ्र होना चाहिए। पदार्थ जैसे ही आकार में बड़ा होता है वैसे ही उसके हलने-चलने में अधिक समय लगता है; किन्तु जहाँ एक बार वह चल पड़ता है तब अर्से तक उसी स्थिति में चलता रहता है। पुरुष के मस्तिष्क की यही दशा होने के कारण किसी भी मानसिक व्यापार में प्रवृत्त होते हुए उसे अधिक समय लगता है, किन्तु शुरू करने के बाद उस काम

के बोझ को वह अर्से तक वहन कर सकता है। जिस दिशा की ओर उसने चलना शुरू कर दिया वह उस ही ओर आग्रह के साथ चला जायगा, काम का एक तरीक़ा बदल कर दूसरा स्वीकार करने में उसे असन्तोष होगा, जिसे उसने करना स्वीकार किया उसे अर्से तक निबाहे जायगा—उसे थकान न दबावेगी—उसकी शक्तियाँ कम न होंगी। और हमारे नित्य के अनुभव में क्या ये बातें नहीं आतीं कि पुरुष जिन बातों के कारण स्त्रियों से उच्च समझे जाते हैं, वे बातें ऐसी होती हैं कि जिन में दीर्घ विचार या लम्बे परिश्रम की आवश्यकता होती है और जिन कामों को झटपट कर डालने की आवश्यकता होती है उन्हें स्त्रियाँ ही करती हैं। स्त्रियों का दिमाग़ बहुत जल्दी थकता है; पर थोड़ी देर के परिश्रम से जैसे जल्दी थक जाता है वैसे ही फिर शीघ्र उसी स्थिति पर आ भी जाता है। पर, फिर मैं यह कहता हूँ कि यह विचारमाला आनुमानिक है; इस विषय की खोज में एक पद्धति विशेष उपयोगी होने का दावा नहीं कर सकती। हम यह पहले ही से कह आये हैं कि स्त्री-पुरुषों की मानसिक सामर्थ्य या उनकी प्रवृत्ति के प्रकृतिसिद्ध भेद वास्तविक रीति से हमें मालूम नहीं हो सकते; फिर ये भेद कौन-कौन से हैं और किस प्रकार के हैं, इसका तो जानना बड़ी दूर की बात है। जब तक प्रस्तुत विषय मानस-शास्त्र से न देखा जाय तब तक मनुष्य के लक्षण कैसे होते हैं और वे कैसे बनते हैं इसका

भली-भाँति समझ में आना मुमकिन नहीं। स्त्री-पुरुषों के चाल-चलन और व्यवहार में भेद होने के जो बाहरी कारण दीखते हैं उनकी ओर जिज्ञासु-वर्ग जब तक लक्ष्य न करेगा, तथा वर्त्तमान सृष्टिशास्त्रवेत्ता और मानसशास्त्र के अभ्यासी इन कारणों को तुच्छ समझ कर उपेक्षा की दृष्टि से देखेंगे, तब तक हमें इस विषय में कुछ भी ज्ञान प्राप्त करने की आशा रखनी ही न चाहिए। न्यारे-न्यारे व्यक्तियों में जो मुख्य भेद दीखता है, उसका मूल खोजने के लिए सृष्टिशास्त्र और मानसशास्त्र के अभ्यासी या तो जड़ सृष्टि का या चैतन्य सृष्टि का पृथक्करण करने लगते हैं, किन्तु जो विद्वान् यह कहता है कि इन भेदों के कारण भिन्न-भिन्न व्यक्तियों का संसार और समाज का सम्बन्ध भिन्न-भिन्न होता है—तो उसे वे तुच्छ दृष्टि से देखते हैं।

१४—लोगों ने स्त्रियों के स्वभाव के विषय में जो गढ़न्त गढ़ा है वह ऐसा हँसी दिलाने वाला है कि उस में पृथक्करण, विमर्श आदि शास्त्रीय पद्धति का तो नाम-निशान भी नहीं मिलता; पर ऊपर ही ऊपर के अन्दाज़ों, प्रमाणों और जो कुछ दार्शनिक प्रमाण मिल गये उन से जिसे जो अच्छा लगा उसने अपने अनुभव से वैसा ही अनुमान बना डाला। न्यारे-न्यारे देशों के लोक-मत और लोक-स्थिति के असर से उस देश वाली स्त्रियों के स्वभाव के जो-जो अङ्ग विकसित होते हैं—उस ही के अनुसार अन्दाज़े भी बाँधे जाते हैं। एशिया

के लोगों की समझ है कि, स्त्री स्वभाव ही से अत्यधिक विषया-सक्त होती हैं। हिन्दुओं में जो स्त्री की निन्दा की गई है,* सो विशेष कर के इसी दोष का आरोपण कर के। अँगरेज़ समझते हैं कि, स्त्रियाँ स्वभाव ही से मन्द और निरुत्साही होती हैं। स्त्रियों की चञ्चलता और अस्थिरता की विशेष उत्पत्ति फ्रेञ्च भाषा से हुई है। इङ्गलैण्ड वालों का ख़याल है कि स्त्रियाँ पुरुषों से ज़ियादा ईमानदार और पवित्र हैं। फ्रान्स से इङ्गलैण्ड में स्त्रियों की बेईमानी अधिक दोषास्पद मानी जाती है, तथा इङ्गलैण्ड की स्त्रियों पर लोकलज्जा का असर विशेष होता है। इस स्थान पर यह कह देना आवश्यक है कि, इङ्गलैण्ड वालों की स्थिति ऐसी होगई है कि स्त्री, पुरुष या समग्र मनुष्य-जाति के विषय में यदि उन्हें अनुमान करना हो कि, कौनसा बर्ताव स्वाभाविक है और कौनसा अस्वाभाविक— तो वे इस में अयोग्य हैं। और यदि केवल अपने ही देश पर से उन्हें यह अनुमान बाँधना हो तो वे और भी अयोग्य हैं। क्योंकि इस देश में मनुष्य का मूल स्वभाव सर्व्वथा बदल गया है। चाहे इसे अच्छा कहो या बुरा, किन्तु संसार की सब जातियों से विशेष इन्हीं की मूल स्थिति में परिवर्त्तन हुआ है। अन्य सब प्रजाओं की अपेक्षा इन पर सुधार और शिक्षा का सब से अधिक असर हुआ है। यदि किसी देश में इस प्रकार की सामाजिक शिक्षा सफल हुई हो कि, जिस में समाज-

---

* अनृत साहस माया मूर्खत्वमतिलोभिता।
अशुचित्वं निर्दयत्वं स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः।

व्यवस्था के सामने पड़ने वाली रुकावटें दाब दी गई हों तो वह इसी देश में हुई है। अँगरेज़ अपना बर्ताव नियम के अनुसार ही नहीं रखते है, बल्कि अपने विचार भी नियम के अनुसार ही रखते है। दूसरे देशों में समाज के निश्चित किये हुए नियमों के अनुसार चलते अवश्य हैं—अर्थात् उसका चलन व्यक्तिमात्र में होता अवश्य है—किन्तु उसकी सत्ता के नीचे दबा हुआ विशेष स्वभाव निर्जीव नहीं होजाता, उसकी सजीवता बहुत बार दिखाई दे जाती है। समाज के नियम प्रकृति के नियमों से विशेष सत्ता वाले होते हैं, किन्तु उनका अस्तित्व तो क़ायम ही होता है। इङ्गलैण्ड देश में तो लोक-रूढ़ि के प्रज्ञात नियमों को पददलित करके उनके स्थान पर वे ही अधिष्ठित हो गये है। वहाँ के लोगों की वृत्ति रूढ़ि या नियम के अङ्कुश में रह कर जीवन-व्यापार में प्रवृत्त नहीं होती, बल्कि रूढ़ि से भिन्न चलने वाली और कोई वृत्ति ही उनकी नहीं होती। एक प्रकार से यह परिणाम प्रशंसनीय है, किन्तु साथ ही हानिकर भी है। और चाहे जो कुछ हो, पर परिणाम तो प्रकट है कि कोई अँगरेज़ अपनी जाति के अनुभव से मनुष्य स्वभाव की मूल प्रवृत्ति का पता नहीं लगा सकता—उससे ग़लतियाँ ही होंगी। मनुष्य-स्वभाव की प्रवृत्तियों का अनुभव करने वाले अन्य देशीय विद्वानों से जैसी भूलें होती है वे और ही प्रकार की हैं। मनुष्य-स्वभाव के विषय में जब अँगरेज़ों को कुछ ज्ञान नहीं होता तब फ्रेञ्च

लोगों को जो ज्ञान होता है वह अयथार्थ और ग़लत होता है। अँगरेज़ों की भूलें अभावदर्शक (nogative) होती हैं, और फ्रेञ्च लोगों की भूलें भावदर्शक (positive) होती हैं। अँगरेज़ निश्चय करते हैं कि अमुक बात का अस्तित्व पृथ्वी पर था ही नहीं, क्योंकि उनके देखने में कभी नहीं आया; उस ही समय फ्रेञ्च लोग निश्चित करते हैं कि अमुक बात तो प्रत्येक समय और प्रत्येक देश में होनी चाहिए, क्योंकि उनके देखने में आई है। अँगरेज़ों को मनुष्य के मूल स्वभाव का बिल्कुल ज्ञान नहीं होता; क्योंकि उसके देखने का उन्हें अवसर ही नहीं मिला। फ्रेञ्चों की जानकारी इस विषय में बहुत होती है, पर उसका सच्चा स्वरूप समझने में वे भूलते हैं—क्योंकि जिस स्वभाव का उन्हें अनुभव होता है वह विकृत और अशुद्ध होता है। अवलोकन का जो कुछ विषय होता है, वह समाज-संगठन के असर से ऐसा विकृत हो जाता है कि उसकी नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ दो तरह से ढक जाती हैं—या तो उसका कुदरती रूप सर्वथा ही ढक जाता है और या रूपान्तर होजाता है। जब पहला प्रकार घटता है तब मूल स्वरूप का जो सत्वहीन अवशिष्ट भाग रह जाता है वह अवलोकन के काम में सर्वथा अनुपयोगी नहीं होता; पर जब दूसरा प्रकार घटता है तब उसका विशेष भाग अवशिष्ट अवश्य होता है, किन्तु उसका विकाश स्वेच्छा से होने के बदले अस्वाभाविक ही होता है।

१५—मैं ऊपर कई बार इस बात को कह चुका हूँ कि स्त्री-पुरुषों की मानसिक शक्तियों में जो भेद दिखाई देते हैं, उनमें स्वाभाविक और अस्वाभाविक कितने हैं, या कोई भेद स्वाभाविक तथा प्रकृतिसिद्ध हैं भी या नहीं—यह, जब तक वर्तमान स्थिति बनी रहेगी तब तक नहीं जाना जा सकता। इस ही प्रकार उन-कृत्रिम कारणीभूत कारणों को दूर करना चाहो जो दो मानसिक शक्तियों में-भेद करने वाले बने हैं, तो अभी हम से यह भी नहीं समझा जा सकता कि उनका स्वरूप कैसा होगा। जिस बात को मैं अशक्य कह चुका हूँ उसे पजोखने के प्रपञ्च में मैं नहीं फँसता—किन्तु सन्देह तर्क और कल्पना का प्रतिबन्धक नहीं होता—मन में जिस विषय का सन्देह हो उसके विषय में यह नहीं हो सकता कि कल्पना भी न बाँधी जाय। यह सम्भव है कि कोई विषय निश्चयात्मक रूप से प्रतिपादित न हो, किन्तु प्रतिपादित न होने पर भी ऐसे साधन मिलने सम्भव हैं जिनसे मन को सन्तोष हो। इस प्रकार देखने से सब से पहला भेद जो हमारे सामने आता है वह यह है, कि ये भेद किस प्रकार पैदा होने पाये, इस विषय में हम कुछ अन्दाज़ा कर सकते है—और इस अन्दाज़े में जिस मार्ग को पकड़ना चाहिए उसे ही पकड़ूँगा—अर्थात् मैं यह निश्चित करूँगा कि आस-पास के संयोगों का मन पर कैसा असर होता है। यदि मनुष्य पर

बाहरी कारणों का असर ही न होता, तो उसका मूल स्वभाव कैसा होता—इसे निश्चय करने के लिए स्थितियों से मनुष्य भिन्न नहीं किया जा सकता—हमारे लिए यह असम्भव है। किन्तु हम इसका निश्चय कर सकते हैं कि इस समय मनुष्य की जो स्थिति है वह कैसे संयोगों से होकर आई है, और उन संयोगों का परिणाम यही स्थिति हो सकती है या नहीं।

१६—तो सब से पहले स्त्रियाँ पुरुषों से शारीरिक बल में कम होती हैं, पर इस शारीरिक कमी के विचार को अभी हम छोड़ते हैं, और प्रकट में स्त्रियाँ पुरुषों से जिस बात में कम दीखती हैं उसे ही उठाते हैं। तत्त्वज्ञान, विज्ञानशास्त्र और कला,—इन तीनों विषयों में ऐसी कोई स्त्री आजतक नहीं हुई जिसे हम ऊँचा स्थान दे सकें। अब हमें इस बात की परीक्षा करनी है कि स्त्रियाँ इस बात में सर्वथा अयोग्य हैं—यह बिना माने भी कमी पूरी हो सकती है या नहीं।

१७—सब से पहले यदि मैं यह कहना चाहूँ कि, इस विषय में जितने प्रमाण हमारे अनुभव में आये हैं, वे किसी सिद्धान्त के निश्चित कर लेने योग्य नहीं हैं—तो यह अनुचित न होगा। यदि ऐसे उदाहरणों की खोज करें कि जिन में तत्त्वज्ञान, शास्त्र और कला आदि में स्त्रियों ने कुछ ज्ञान प्राप्त किया हो—तो यह अधिक से अधिक तीन पीढ़ियों तक हो सकता है। यदि इन विषयों की ओर स्त्रियों का ध्यान गया

है तो वह इस ही ज़माने में, और इस में भी यदि इंगलैण्ड और फ्रान्स को छोड़ देवें तो बाक़ी स्त्रियों में ऐसी स्त्रियों की संख्या बहुत ही कम रह जायगी। फिर स्त्रियों से यह आशा रखनी ही व्यर्थ है कि वे इस थोड़े से समय में इस विषय की अच्छी जानकारी या विज्ञता प्राप्त कर सकी होंगी। जिन-जिन बातों में अपनी आज़माइश करने की स्त्रियों को स्वाधीनता मिली है, उन सब बातों में, और ख़ास करके साहित्य में स्त्रियों ने अपनी दक्षता और विज्ञता का जो परिचय दिया है वह सन्तोषजनक है; क्योंकि उनको मिले हुए समय, और इस विषय की ओर झुकने वालियों की संख्या को यदि हम ध्यान में रख कर इस विषय पर विचार करें तो हम उनसे जितनी आशा रख सकते थे वह पूरी हुई है—यह स्पष्ट है। इस विषय को लेकर यदि हम अब से पहले के ज़माने को खोजने जायँगे तो बहुत थोड़ी स्त्रियों को ग्रन्थलेखन की ओर झुके पायेंगे; किन्तु उन थोड़ी ही स्त्रियों ने अपने काम में अच्छा कौशल दिखाया हैं। ग्रीक लोगों ने सेफो (Sappho) नामक स्त्री की गणना उत्कृष्ट कवियों में की है। इस ही प्रकार पिण्डार नामक प्रसिद्ध कवि मिर्टिस नाम्नी स्त्री से कविता की शिक्षा लेता था; इस ही प्रकार उत्तम से उत्तम कविता का पुरस्कार पिण्डार के हाथ पहुँचने से पहले कोरिन्ना नामक स्त्री ने पाँच बार उसे टोका था। पिण्डार जैसे

प्रसिद्ध कवि की तुलना में इन दो स्त्रियों के नाम आये हैं; इससे स्पष्ट है कि इनकी बुद्धि और योग्यता उच्च कोटि की थी; एस्पेशिया नामक स्त्री ने तत्त्वज्ञान पर कोई ग्रन्थ नहीं लिखा, किन्तु यह निश्चित है कि साक्रटीस जैसा उद्भट विद्वान् और सुप्रसिद्ध तत्त्वज्ञानी उसके पास शिक्षा लेने जाता था, और साक्रटीस ने स्थान-स्थान पर इस बात को स्वीकार किया है कि, मुझे उससे बहुत ज्ञान प्राप्त हुआ है। यह बात इतिहास में प्रसिद्ध है।

१८—ग्रन्थ-रचना के विषय में तथा कलाओं के सम्बन्ध में यदि हम आधुनिक स्त्रियों की तुलना पुरुषों से करें तो उनमें एक ही कमी मालूम होती है; यद्यपि वह कमी बड़े महत्त्व की है। अर्थात् स्त्रियों की रचनाओं में नवीनता और अपूर्वता बहुत कम देखी जाती है। यद्यपि सम्पूर्ण नवीनता का तो कभी अभाव होता ही नहीं, क्योंकि प्रत्येक मानसिक कृति में—यदि उसमें कुछ भी दम होगा तो कुछ न कुछ तो नवीनता होहीगी। क्योंकि आख़िर तो वह एक बुद्धि की कल्पना का ही परिणाम होता है, किसी पुरानी कृति का केवल अनुकरण मात्र तो होता ही नहीं। स्त्रियों के द्वारा लिखे हुए ग्रन्थों में नये भाव—अर्थात् दूसरों के चोरे हुए भाव नहीं, बल्कि अपने देखे हुए या निजी मनोविकारों से उत्पन्न हुए भाव बहुतायत से मिलते हैं। किन्तु उनका ऐसा कोई नवीन या विशाल विचार नहीं दिखाई देता

जिसके कारण तत्त्वज्ञान के इतिहास में किसी नवीनता का दर्शन हो, इस ही प्रकार कला-विषय पर भी उनके द्वारा कोई नवीनता नहीं दिखाई देती। स्त्रियों की ग्रन्थ रचना विशेष करके संसार के परिचित विचार-समुदाय पर ही होती है; उनकी कृतियाँ प्रचलित नमूनों से अधिक भिन्न नहीं होतीं। अर्थात् स्त्रियों की रचना में सब से बड़ी यही कमी है। क्योंकि ग्रन्थ-रचना, विचार-संकलन, और शैली की सुन्दरता आदि में स्त्रियाँ पीछे नहीं रहतीं; वस्तु-संकलन और ग्रन्थ-रचना में देखेंगे तो हमारे ग्रन्थकार स्त्रीवर्ग के ही मालूम होंगे। अर्वाचीन ग्रन्थों में विचार अङ्कित करने की उत्तम शैली देखेंगे तो मेडम स्टेइल की मालूम होगी। इस ही प्रकार मेडम सेण्ड की गद्य-रचना में ऐसा विलक्षण चमत्कार दिखाई देता है कि, उसके ग्रन्थों को पढ़ते समय प्रसिद्ध सङ्गीतशास्त्री हेडन या मोज़ार्ट के मधुर गीत सुनने के समान हृदय प्लावित हो जाता है। लेकिन स्त्रियों की रचना में उच्च प्रतिभा-शक्ति और अपूर्व कल्पना का अभाव है। अब हमें इस पर विचार करना चाहिए कि इस विषय में स्त्रियों के पिछड़ जाने के कारण कौन-कौन से हैं।

१९—विचार करते हुए सब से पहले हमारी नज़र उस अतीत काल पर पहुँचती है जब मनुष्य पहले के अध्ययन या सञ्चित ज्ञान की सहायता के बिना केवल बुद्धि पर दीर्घगामी सत्य की मीमांसा करते थे, उस सुधार के प्रारम्भ काल में

स्त्रियों का मन ही इस ओर नहीं दीखता। हिपेशिया * के समय से धार्मिक सुधार के समय तक, यदि किसी स्त्री ने तत्त्वमीमांसा के काम में यश प्राप्त किया तो वह हैलोइज़ा ही थी। किन्तु उसका जीवन क्लेशपूर्ण होने के कारण वह अपने ज्ञान से संसार को कुछ भी लाभ न पहुँचा सकी, इस बात से तत्त्वमीमांसा को कितनी हानि हुई होगी, सो कोई नहीं कह सकता। और जब से स्त्रियों की ख़ासी तादाद गम्भीर विषयों पर विचार करने लगी तब से नवीन और विलक्षण विचारों की खोज निकालने का काम उतना सरल नहीं रहा। केवल अपूर्व मानसिक शक्ति से जो विचार सूझ सकते हैं, वे तो संसार में बहुत अर्से से प्रकट हो चुके थे ; और "नवीन विचार" शब्द का जो कुछ सच्चा अर्थ होता है वह तो उन्हीं को सूझ सकता है जो वर्तमान उच्च शिक्षा से दीक्षित हुए है या जिन्होंने अपने से पहले वाले विद्वानों के ग्रन्थ मनोयोग-पूर्वक पढ़े हैं, अन्यथा और बुद्धिमान् मनुष्यों को उनका सूझना कठिन है। वर्तमान समय की बुद्धि-सामर्थ्य का विवेचन करते समय, मेरी समझ के अनुसार मेरिस ने जो यह कहा है कि जिन्हें अपने से पहले विद्वानों का पूरा ज्ञान होता है, वे ही इस ज़माने में अपने नवीन विचार

---

* हिपेशिया (Hypatia) नामक विदुषी स्त्री तत्त्वशास्त्र और गणितशास्त्र में विशेष योग्यता वाली थी। वह अलेक्ज़ेंड्रिया नगर में ईसा से १६०० वर्ष पूर्व हुई है।

व्यक्त कर सकते हैं, यह ठीक है। और प्रत्येक समय में यही होगा। ज्ञान की अट्टालिका इतनी ऊपर पहुँच गई है कि जिसे ऊपर वाली मञ्ज़िल पर काम करने की आवश्यकता होती है और जो वर्तमान को कुछ आगे बढ़ाने की महत्वाकांक्षा रखता है—उसे सब सामान से लैस होकर बहुत ऊपर जाने की आवश्यकता होती है। किन्तु जिन्होंने इतना काम उठाया हो ऐसी कितनी स्त्रियाँ इस समय दिखाई देती हैं? वर्तमान समय में गणितशास्त्र-सम्बन्धी नवीन खोज यदि कोई स्त्री कर सकती है तो वह मिसेज़ समरविल है। जिन दो तीन व्यक्तियों ने गणित-शास्त्र के ज्ञान को इस समय विशेष उच्च बना दिया है, उनके बराबर बैठने का सम्मान यदि यह विदुषी स्त्री न प्राप्त कर सकी, तो क्या इससे यह सिद्ध होता है कि स्त्रियों की बुद्धि हीन है? जब से अर्थशास्त्र का विचार शास्त्रीय पद्धति से होने लगा तब से इस विषय पर उपयोगी ग्रन्थ लिखने वाली दो स्त्रियाँ निकली हैं, किन्तु इतने ही समय में इस विषय पर लिखने वाले जो अनेक पुरुष हुए हैं उन्होंने उनसे अधिक और क्या किया है? यह सत्य है कि अब तक कोई स्त्री उत्तम इतिहास नहीं लिख सकी, पर इस काम के योग्य जितने ज्ञान और जितनी सामग्री की आवश्यकता है, उसे भी क्या कोई स्त्री प्राप्त कर सकी है? इसी प्रकार भाषाशास्त्र पर प्रकाश डालने वाले ग्रन्थ भी किसी स्त्रीने नहीं लिखे, इसका कारण यह है कि संस्कृत, स्लेवोनिक, गोथिक,

गशियन आदि भाषाओं का अभ्यास करने का अवसर स्त्रियों को नहीं मिला। व्यवहार में भी हम देखते हैं कि जिसकी बुद्धि शिक्षा के द्वारा संस्कृत नहीं होती, वह अपने जिस काम को नई खोज की दृष्टि से देखता है उसकी क़ीमत कुछ नहीं होती। पीछे से उसे मालूम होता है कि यह खोज तो बहुत समय पहले अमुक मनुष्य ने की थी और तब से अब तक उसमें अनेक सुधार भी होगये हैं। वास्तविक खोजी बनने के लिए मनुष्य को बड़े भारी ज्ञान और सामग्री की आवश्यकता है,—यदि यह परीक्षा करनी है कि स्त्रियों में खोज-शक्ति है या नहीं, तो पहले उन्हें स्वाधीनता-पूर्वक पूर्ण ज्ञान और सामग्री प्राप्त करने दो। क्योंकि प्राचीन अनुभव से जो अनुमान किया जाता है वह निरूपयोगी होता है।

२०—कभी-कभी यह भी होता है कि कोई मनुष्य किसी ख़ास विषय पर सविस्तर विचार या यथार्थ अभ्यास न करने पर भी आन्तरिक कल्पना ही से किसी मार्म्मिक विचार को निकाल लेता है; वह दूसरे को अपनी कल्पना समझा सकता है, किन्तु उसे कारण सहित सिद्ध करना नहीं आता। किन्तु जब वह कल्पना परिपक्व हो जाती है तब उसके ज्ञान-भण्डार में विशेष वृद्धि होती है। ऐसी कल्पनाएँ बहुतों के दिमाग़ में पैदा होती है, किन्तु जब तक कोई सुशिक्षित विद्वान् उस कल्पना को कसौटी पर चढ़ाकर शास्त्रीय व्यवहार का स्वरूप नहीं देता, तथा ज्ञान के भण्डार में उसका

योग्य स्थान नहीं निश्चित कर देता, तब तक उसकी कीमत किसी के ध्यान में नहीं आती। ऐसी उपयोगी कल्पना स्त्रियों में न होती होगी—यह क्या किसी अनुमान से सिद्ध हो सकता है? प्रत्येक बुद्धिमती स्त्री को ऐसे सैंकड़ों विचार सूझते हैं, किन्तु उनमें से अधिकांश व्यर्थ जाते हैं—क्योंकि उनके पति और कुटुम्बी उन विचारों को या तो समाज के समक्ष रखना ही पसन्द नहीं करते और या उनके समझने की ही योग्यता उन में नहीं होती। और यदि कभी-कभी ये विचार संसार के सामने आ भी जाते हैं तो वे किसी पुरुष की कृति के रूप में होते हैं और उसके सच्चे कर्त्ता का नाम अँधेरे में ही होता है। पुरुष-लेखकों के ग्रन्थों द्वारा जितने नवीन विचार प्रकट हुए हैं, उन में कितनी अमूल्य कल्पनाएँ स्त्रियों की विशेष सूचना से लिखी गई हैं, इसका निर्णय कोई नहीं कर सकता। यदि मैं केवल अपने ही अनुभव से इसका अन्दाज़ा लगाऊँ तो ऐसे विचारों की संख्या बहुत अधिक दीखती है।

२१—केवल तत्त्वज्ञान-सम्बन्धी विचारों को छोड़ कर यदि हम साधारण साहित्य और ललित कलाओं पर विचार करेंगे, तो हमें मालूम होगा कि स्त्रियों के हाथ से लिखे हुए ग्रन्थों की कल्पना और सामान्य रूप जो पुरुष-ग्रन्थकारों के सदृश होता है उसका कारण स्पष्ट है। विद्वान् समालोचक समय-समय पर प्रकट करते हैं कि रोमन लोगों का

साहित्य ग्रीक लोगों के साहित्य का नमूना है, इसका कारण क्या है? कारण यही है कि, ग्रीक लोग रोमन लोगों से पहले सुधरे थे। यदि स्त्रियाँ एक न्यारी ही दुनियाँ में रहती होतीं और पुरुषों के हाथ की लिखी एक पुस्तक भी उन्होंने न पढ़ी होती तो इसमें सन्देह नहीं कि, उनका साहित्य और ही तरह का होता। किन्तु यह बात तो हो नहीं सकती थी, और स्त्रियों की प्रवृत्ति जिस समय साहित्य की ओर हुई उस समय पुरुषों का साहित्य बहुत उच्च हो चुका था, इसलिए स्त्रियाँ भिन्न प्रकार का साहित्य न बना सकीं। यदि प्राचीन शिल्प-कला का ज्ञान नष्टप्राय न हो गया होता, और प्राचीन शिल्प का उद्धार (Renaissance) गोथिक पद्धति से मन्दिर बनाने के पूर्व प्रारम्भ हो गया होता, तो आज जिस प्रकार के गिर्जे दीखते हैं वे किसी और ही ढँग के होते। यह हमारे अनुभव में आई हुई बात है कि फ्रान्स, इटली में प्राचीन लेखन-पद्धति के अनुकरण की प्रथा प्रचलित हो जाने के कारण, वहाँ के लोगों की प्रारम्भ की हुई स्वतन्त्र पद्धति का विकाश रुक गया था। जो जो स्त्रियाँ ग्रन्थ लेखन का काम करती हैं, वे सब बड़े-बड़े पुरुष-ग्रन्थकारों की शिष्या हैं। योरप के सुप्रसिद्ध चित्र-कार राफल के प्रारम्भिक दशा के सब चित्र उसके गुरु की निश्चित प्रणाली पर ही बनाये गये हैं। मोज़ार्ट के समान अलौकिक संगीतशास्त्री के प्रारम्भिक दशा के गायन भी उसकी विलक्षण प्रतिभाशक्ति से बहुत कुछ उतरते हुए हैं। एक

प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति को अपनी उच्च से उच्च दशा पर पहुँचने में जितने वर्ष लगते हैं, समग्र व्यक्ति-समुदाय को उस पंक्ति पर पहुँचने में उतनी ही पीढ़ियाँ लगती है। अर्थात् बुद्धिमान से बुद्धिमान् व्यक्ति की बुद्धि का विकाश भी एकदम नहीं होता, बल्कि धीरे-धीरे एक मुद्दत के बाद वह अपनी उच्च दशा पर पहुँचता है—फिर यह तो स्पष्ट है कि समग्र समाज के उस दशा पर पहुँचने के लिए बहुत वर्ष, बल्कि उतनी पीढियाँ लगनी ही चाहिएँ। स्त्री और पुरुष की प्रवृत्ति में जो प्रकृति-सिद्ध भेद हों, और इस कारण पुरुषों की लेखन-पद्धति से स्त्रियों की लेखन-पद्धति भिन्न होनी थोड़ी बहुत भी सम्भव हो—तो इस दशा पर पहुँचने के लिए अब तक जितना समय लगा है इससे कहीं अधिक समय की आवश्यकता है। जो रूढिगत प्रभाव सर्वमान्य हो गया है उससे मुक्त होकर, अपनी सहज प्रवृत्ति की ओर झुकने के लिए बड़े लम्बे समय की आवश्यकता है। किन्तु मेरे निश्चय के अनुसार स्त्री और पुरुष की बुद्धि में कोई प्रकृतिसिद्ध भेद नहीं है, तथा दोनों की मानसिक प्रवृत्तियाँ एक ही प्रकार की है। अन्त में यह साबित हो होगा, पर * स्त्री-लेखिकाओं की भी कोई ख़ास प्रवृत्ति तो होनी ही चाहिए। किन्तु वह इस समय प्रचलित रीति-रिवाज और प्रत्यक्ष नमूनों के कारण दबी हुई है। और इस बात पर पहुँचने में अभी अर्सा है कि ऐसी व्यक्तिविशिष्ट

* पिण्डे पिण्डे मतिर्भिन्ना।

प्रवृत्ति उस प्रभाव को नष्ट करके अपनी आँखें ऊँची कर सके।

२२—स्त्रियों में बुद्धि की कमी साबित करने के लिए बुद्धिमान् लोग यह सबूत पेश करते हैं कि ललितकला सीखने में स्त्रियों को किसी प्रकार की रुकावट नहीं है,—अर्थात् गायनकला, नर्तनकला और बाजे बजाना आदि सीखने में औरतें आज़ाद हैं। इन कलाओं को सीखने में लोकमत या रूढ़ि उनके ज़रा भी ख़िलाफ़ नहीं, बल्कि इन बातों में उल्टा उनका दिल बढ़ाया जाता है कि उन्हें सीखना ही चाहिए; तथा स्त्री-शिक्षा के साथ भी इस पर पूरा ध्यान दिया जाता है और खाते-पीते घरों की स्त्रियों के लिए तो यह विषय सभ्यता का चिह्न माना जाता है, जो स्त्रियाँ इस में निपुण होती हैं वे इज़्ज़त की नज़र से देखी जाती हैं। पर यह सब कुछ होते हुए भी स्त्रियाँ और बातों में जैसे पुरुषों से पीछे हैं, वैसे ही इस विषय में भी वे पीछे ही पड़ी हैं। स्त्रियों के इस प्रकार पीछे रह जाने का कारण वही है जिससे हम भली भाँति परिचित हैं,—अर्थात् जो मनुष्य सिर्फ़ अपना शौक़ पूरा करने के लिए किसी विद्या, धन्धे या कला को सीखता है, वह उस मनुष्य से पीछे रहता ही है जिसने उस विद्या, धन्धे, या कला को अपना पेट भरने के लिए सीखा है। इस देश (इङ्गलैण्ड) में सभ्य स्त्रियों के लिए ललित कलाओं का सिखाना अवश्य ज़रूरी समझा जाता है, पर उस सिखाने का लक्ष्य यह नहीं होता

कि उस से वे अपना पेट भरें या समाज में उच्च स्थान पा सकें। अधिकांश स्त्रियाँ शौक़ पूरा करने के लिए न्यारी न्यारी कलाएँ सीखती हैं। इस क़ायदे में ख़राबी तो है ही, पर वह ख़राबी ऊपर वाली बात से और भी ज़ियादा मज़बूत हो जाती है। औरतों को गाना ज़रूर सिखाया जाता है, पर वह सिर्फ़ ताल के साथ गाना या बजाना ही भर होता है; इसके साथ ही उन्हें गाना बनाने की शिक्षा नहीं दी जाती। इसलिए संगीतकला के जिस हिस्से में पुरुष स्त्रियों से अधिक होते हैं वह संगीत-रचना है। ललितकलाओं में से जिस कला को स्त्रियाँ अपना पेट पालने के काम में लाती हैं वह सिर्फ़ एक नाट्यकला है; इस कला में यदि स्त्रियाँ पुरुषों से अधिक अच्छी नहीं है तो बहुत ख़राब भी नहीं है। यदि कलाओं के ज्ञान में ही स्त्री और पुरुष की बुद्धि को तौलना है तो उन कला सीखे हुए पुरुषों के साथ उनकी बराबरी करनी ठीक होगी, जिन्होंने पेट पालने के इरादे से कला को नहीं सीखा। उदाहरण के तौर पर जिन पुरुषों ने सिर्फ़ अपना शौक़ पूरा करने के लिए एक-आध ठुमरी टप्पा बना डाला हो उनसे स्त्रियों के बनाये हुए गीतों का मुक़ाबिला करने में वे किसी तरह कम न जचेंगी। ऐसी स्त्रियों की तादाद बहुत ही कम है जो तस्वीरें बना कर अपना गुज़ारा करती हों, पर फिर भी इस काम का अनुभव प्राप्त करने के ए उन्हें जो थोड़ा सा समय मिला है,—इस बात को

ख़्याल में रख कर हम स्त्रियों से जितनी होशियारी की उम्मीद रख सकते हैं, उतनी अपनी होशियारी उन्होंने निर्विवाद सिद्ध कर दी। निस्सन्देह इस समय के चित्रकारों से पुराने चित्रकार कहीं अच्छे थे, इसका कारण यह है कि इस समय के चित्रकारों की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान् मनुष्य उस समय चित्रकारी पर ध्यान देते थे। चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी के इटली के चित्रकार अपने समय के महा निष्णात व्यक्ति थे। प्राचीन ग्रीस के नेताओं के समान ये चित्रकार भी सब विद्याओं में प्रवीण थे, और उनकी बुद्धि विशाल और उच्च प्रति की थी। साथ ही उस ज़माने में ललितकलाओं का सम्मान सब से अधिक था। आज-कल लोग राजनीति और युद्धकला में प्रवीण व्यक्ति को जो सम्मान देते हैं, वही सम्मान उन समयों में ललितकलाओं में प्रवीण व्यक्तियों को दिया जाता था। राज्य-दर्बारों में अमीर-उमराओं और सरदारों की तरह उनकी इज़्ज़त की जाती थी। उनकी कीर्त्ति चारों ओर फैल जाती थी और वे संसार का उपकार करने वाले माने जाते थे; इसलिए इस समय रेनाल्डस या टर्नर के समान बुद्धिमान् पुरुषों का चित्रकारी पर ध्यान देने का उदाहरण हमें देखने को नहीं मिलता। संगीत-कला इस से न्यारी चीज़ है। उस में चित्रकारी के समान ऊँची बुद्धि की कोई आवश्यकता नहीं होती। इसलिए कोई स्त्री संगीत-रचना के काम में सुप्रसिद्ध नहीं हुई,—सम्भवतः, यह बात अचम्भे से

भरी मालूम होगी। पर यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि यदि यह बात किसी व्यक्ति में प्रकृति से है, पर फिर भी यदि वह रात-दिन उस ही में न लगा रहेगा तथा उस विषय का पूरा अभ्यास न करेगा तो संगीत-रचना के काम में उसकी प्रकृत शक्ति किसी काम न आवेगी। पुरुष-वर्ग में भी संगीत-शास्त्र की अपूर्व रचना करने वाले व्यक्ति इटली और जर्मनी में हुए हैं। और इन देशों की स्त्रियाँ साधारण शिक्षा या ख़ास विषय की शिक्षा में इङ्गलैण्ड और फ्रान्स की स्त्रियों से बहुत पीछे हैं। यदि हम यह कह दें कि उन्हें शिक्षा दी ही नहीं जाती, या उनकी मानसिक शक्तियों पर ऊँचे संस्कार नहीं बैठते तो इस में ज़रा भी अतिशयोक्ति न होगी। इस देश (इङ्गलैण्ड) में वाद्यकला और संगीत-रचना के मूल तत्त्वों में पारङ्गत पुरुष सैंकडों हज़ारों होंगे,—पर स्त्रियाँ इतनी ही मिलेंगी जो उँगलियों पर गिनी जा सकें। यदि स्त्री-पुरुषों में से इसका औसत निकाला जाय तो जिस दशा में इस विषय के पचास प्रवीण पुरुष निकलेंगे—उस दशा में वैसी प्रवीण केवल एक ही स्त्री निकलेगी—इस से अधिक की आशा व्यर्थ है। पिछली तीन शताब्दियों में जर्मनी और इटली में इस विषय के प्रवीण पुरुषों की संख्या पचास के बराबर नहीं हुई—तो इस दशा में एक स्त्री के प्रवीण निकलने की भी आशा किस तरह की जा सकती है।

२३—जिन काम-काजों और उद्योग-धन्धों में स्त्री-पुरुष

को समान स्वाधीनता है, उन में भी पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ पीछे क्यों रहती हैं, इसका जो कुछ कारण ऊपर दिखाया गया है उसके अलावा और भी कुछ कारण है। सब से पहले तो इन कामों में लगी रहने के लिए स्त्रियों के पास काफ़ी समय ही नहीं है। यह बात चाहे कुछ लोगों को अचम्भे की मालूम हो, पर सामाजिक निश्चित बात है। प्रत्येक स्त्री को अपने समय और विचार का सब से बड़ा हिस्सा तो अपने रोज़ के व्यवहार-कार्यों में खोना पड़ता है। प्रत्येक कुटुम्ब की एक स्त्री को अपने घरबार की दैनिक बातों पर पूरा ख़याल रखना पड़ता है—और विशेष करके जो स्त्री अनुभवी और बुद्धिमती होती है वही यह सब करती है। जिन घरों में यह काम नौकरों से लिया जाता है उनकी बात न्यारी है, पर घर की अव्यवस्था और खर्च की अधिकता भी इस में होती है। यह हो सकता है कि घर की देख-रेख और काम ज़ियादा मिहनत का न हो, फिर भी दिमाग़ पर तो इसका बोझ पड़ता ही है। उन्हें प्रत्येक समय सावधान और जाग्रत रहना पड़ता है, हर एक छोटी से छोटी बात पर ध्यान रखना पड़ता है, तथा प्रत्येक समय सोचे और बिना-सोचे लगातार इतने प्रश्न उपस्थित होते हैं कि उनके विचार और निश्चय में सब समय चला जाता है। इन बातों के कारण एक पल भी उसे सर्वथा स्वस्थ होने को नहीं मिलता। जिस स्त्री का रुपये पैसे के कारण इस बन्धन से कुछ छुटकारा

होता है, तो उसके सिर अपने कुटुम्ब के बहुत से कर्त्तव्य होते हैं। अर्थात् सगे-सम्बन्धियों से मिलना, इष्ट सम्बन्धियों के यहां मिलने-जुलने जाना, दस औरतों में बैठ कर शिष्टाचार की बातें करनी, गाने बजाने में शामिल होना, पत्रव्यवहार करना आदि लौकिक व्यवहार के सैंकड़ों कर्त्तव्य उनके सिर होते हैं; और गृह-व्यवस्था का काम स्त्रियों के सिर जितना ही कम होता है उतना ही इस प्रकार का भार उन पर अधिक होता है। यह सब समाज ने उन पर आवश्यक और तल्लीन कर डालने वाला कर्त्तव्य डाला है, नियमित सब काम कर चुकने पर भी उन्हें यह तो करना ही पड़ता है। अपने आप को सुन्दर और आकर्षक बनाने के लिए माँग-चोटी, शृङ्गार-सजावट, टीप-टाप, बोलने-चालने में सभ्यता आदि बातों में स्त्रियों को प्रवीण बनना पड़ता है। बड़े घरानों की और अपने आप को होशियार कहाने वाली प्रत्येक स्त्री को अच्छा शिष्टाचार और बोलने-चालने का उत्तम ज्ञान प्राप्त करने में अपनी बुद्धि का सब से बड़ा हिस्सा ख़र्च करना पड़ता है। इस बात के बाहरी स्वरूप को ही यदि हम देखेंगे तो मालूम होगा कि जो स्त्री अपनी पोशाक ठीक रखना ज़रा भी महत्त्व की बात समझती होगी (ठीक रखने का मतलब चमक-दमक वाली पोशाक नहीं, बल्कि साफ़-सुथरी) उसे और इस प्रकार की सब स्त्रियों को अपनी पोशाक के सम्बन्ध में और अपनी सन्तान की पोशाक के सम्बन्ध में जितनी अक़्ल लगानी पड़ती है, वही

अक्ल यदि किसी कला, साहित्य, या पदार्थ-विज्ञान या और किसी शास्त्रीय विषय के पढ़ने में लगाई जाय तो उन विषयों के इतिहास में उनका नाम उच्च श्रेणी में प्रतिष्ठित हो, इस में शक नहीं *। यह बात तो निर्विवाद है कि उनकी बुद्धि और समय का इतना बड़ा भाग इस काम के पीछे खर्च होता है कि उन्हें अन्य मानसिक व्यवसायों के लिए समय ही नहीं मिलता। ऊपर कहे हुए प्रतिदिन के व्यावहारिक छोटे-बड़े

* "जिस योग्य मानसिक शक्ति के कारण मनुष्य को किसी कला की योग्यता-अयोग्यता के विषय में यथार्थ कल्पना प्राप्त होती है, उस ही मानसिक शक्ति का उपयोग वस्त्रालङ्कार या शरीर सजाने के काम में होता है। वस्त्रालङ्कार का हेतु यद्यपि छोटा होता है, किन्तु इसके स्वरूप का मूल तो एक ही प्रकार का होता है। यह सिद्धान्त पोशाक की रुचि से और भी अधिक स्पष्ट होता है। इसे सब स्वीकार करते हैं कि पोशाक में अभिरुचि या रसज्ञता का अंश होता है। पोशाक के न्यारे-न्यारे अङ्गों के कद, और माप समय-समय पर बदलते रहते हैं। छोटे भाग बड़े होते हैं और जो सकुचित होते हैं वे बढते हैं। किन्तु उनका सामान्य स्वरूप तो बना ही रहता है, उसका तो ढांचा नही बदलता। पोशाक में जो कुछ लौट-फेर होता है, वह उसके भिन्न-भिन्न भागों में घटता है, किन्तु वह स्वरूप तो बना रहता ही है। पोशाक के लौट-फेर और काट-छाट में जो मनुष्य सुधार करता है, तथा पोशाक पहनने में जिस व्यक्ति की रुचि उच्च प्रति की है, यदि ये दोनों व्यक्ति अपनी इस ओर की कल्पना-शक्ति का उपयोग अन्य विशेष उपयोगी कामों में करें तो कला-कौशल-कारीगरी के बड़े बड़े कामों मे भी उनकी उस बुद्धि का विलक्षण चमत्कार अवश्य दीखे। अर्थात् उनकी उस प्रकार की रसज्ञता और अभिरुचि इस में भी प्रकट हो, इस में कोई शक नही।" Sir Joshua Reynolds' Discourses, Disc. VII.

कामों को पूरा करने के बाद भी अवकाश रहता हो और दूसरे काम करने की इच्छा तथा मन की स्वतन्त्रता बचती हो—सब कुछ काम करने के बाद एक-आध कला के अध्ययन या तत्त्वमीमांसा के काम में अपने बचाये हुए समय को लगाने की इच्छा हो—तो समझना चाहिए कि उनकी मानसिक शक्ति पुरुषों से कहीं अधिक है; किन्तु इतने ही से बस नहीं होता। गृहिणी के सब कर्त्तव्य सन्तोषकारक रीति से पूरे करने के बाद, उसे कुटुम्ब और दासवर्ग के प्रत्येक मनुष्य का कुछ न कुछ काम करना पड़ता है। उसे अपने समय और बुद्धि के साथ सब की सेवा में हाज़िर रहना पड़ता है। पुरुष जब किसी उदर-निर्वाह के काम में लगा होता है तब वह घरेलू या सामाजिक कर्त्तव्य पूरा करने के लिए उतना बाध्य नहीं समझा जाता, किन्तु यदि वह उदर-निर्वाह के काम में न लग कर अपना समय खेल-कूद या हँसी-दिल्लगी में ही बिता देता हो और सगे-सम्बन्धियों से मिलने-जुलने की ओर ज़रा भी ध्यान न देता हो, तब भी उसे कोई दोष नहीं देता। कुछ भी न करने पर पुरुष यदि किसी मिलने वाले से कहदे कि "इस समय मैं काम कर रहा हूँ" या "अभी मुझे फ़ुरसत नहीं है", तो उसकी यह बात बिना वजह भी मानी जायगी; पर यदि कोई स्त्री काम में रुकी होने ही के कारण, और ख़ास करके अपने पहनने-ओढ़ने के काम में लगी होने के कारण—घरेलू व्यवहारों को पूरा न कर सके तो

लोग उसको इस बात को कभी माफ़ न करेंगे। अपने घरेलू काम-काजों को और ज़रूरी कामों को एक ओर रख कर उसे व्यवहार पूरा करना ही पड़ता है। व्यवहार पूरा करने के लिए वह उन्हीं हालतों में मजबूर नहीं है जब घर में कोई बीमार हो या कोई असाधारण बात हो। इन हालतों को छोड़ कर बाक़ी सब मौक़ों पर हर एक आते-जाते से उसे व्यवहार की चार बातें करनी पड़ती हैं। यदि उसने अपनी इच्छा से किसी विषय को सीखना सोचा हो या उसे किसी व्यवसाय का ज्ञान प्राप्त करना हो—तो इसे वह इधर-उधर से समय काट-कूट कर पूरा करती है। एक सुप्रसिद्ध स्त्री ने अपने एक ग्रन्थ में लिखा है कि स्त्रियों को हर एक काम बचे-बचाये समय में पूरा करना पड़ता है। ऐसी दशा होने के कारण, जिन कामों में मन की पूरी एकाग्रता की ज़रूरत है, तथा जिन कामों में रात-दिन एक करके लग जाने की ज़रूरत होती है, उन कामों में यदि स्त्रियाँ संसार में सब से ऊँची न कहा सकें तो इस में आश्चर्य्य की कौन सी बात है? तत्त्व-चिन्तन का काम इस ही प्रकार का है। कला-कौशल और कारीगरी के काम भी ऐसे ही होते हैं। इन कामों में जिसे सब से अच्छा बनना होता है उसे अपनी तमाम बुद्धि और तमाम समय लगा कर एकनिष्ठा और एक-ध्यान से लम्बे अर्से तक लगा रहना पड़ता है, तथा इतने ही से बस नहीं होता बल्कि ऊँची चतुराई पाने के लिए उसे लगातार कड़ी मिहनत करनी पड़ती है।

२४—इस विषय में एक और बात ध्यान देने योग्य है। कारीगरी और प्रत्येक बुद्धि-सम्बन्धी काम में एक सीमा तक की प्रवीणता या होशियारी तो केवल उपजीविका सम्पादन करने ही के लिए काफ़ी होती है। और जिसे कीर्त्ति सम्पादन करनी हो, या विलक्षण करामात के द्वारा अपना नाम अमर कर जाना हो, उसे इससे भी कहीं अधिक उच्च प्रवीणता प्राप्त करने की आवश्यकता है। पहले प्रकार की प्रवीणता तो जो लोग किसी काम को किसी व्यवसाय के तौर पर स्वीकार करते हैं उन्हें प्राप्त होती ही है; किन्तु दूसरे प्रकार की प्रवीणता तो उन्हीं को प्राप्त हो सकती है जिन्हें अपना नाम अमर करने की उत्कट आकाङ्क्षा होती है। अत्यन्त बुद्धिमत्ता से भरे हुए, तथा सुन्दर और भव्य काम जो हमारे देखने में आते हैं, उन में उच्च स्थान प्राप्त करने के लिए जिस कौशल और हिम्मत की ज़रूरत है, उसे प्राप्त करने के लिए प्रकृतिदत्त विलक्षण बुद्धि वाले मनुष्यों को भी अटूट परिश्रम में निरन्तर लगे रहना पड़ता है। इसलिए इतनी कठिनाइयाँ झेल कर निरन्तर श्रम किये जाने की हिम्मत नाम अमर करने की प्रबल लालसा से ही मिलती है। किन्तु स्त्रियों के मनों में अपना नाम अमर करने की इच्छा कोई कहीं ही पैदा होती है। यह नहीं कहा जा सकता कि इसका कारण स्वाभाविक है या कृत्रिम। उनकी महत्त्वाकाङ्क्षा का दायरा बहुत ही छोटा होता है। उनकी बड़ी से बड़ी इच्छा यही

होती है कि वे रात-दिन जिन के साथ रहती हैं उन पर उनका अधिकार हो—वे उनके प्रभाव को मानें। उनको इच्छा इस छोटे से वृत्त में घिरी रहती है कि जो मनुष्य उनकी आँखों के आगे घूमते-फिरते हैं, वे उनका आदर करें, सम्मान देवें और प्रशंसा करें। और इस उद्देश की प्राप्ति के योग्य जितनी होशियारी, जितना कला-कौशल और जितनी बुद्धि की आवश्यकता होती है—वह सब प्राप्त होजाने पर वे सन्तोष कर लेती हैं। स्त्रियों की स्थिति के विषय में अपनी सम्मति देते समय उनके स्वभाव के इस विशेष लक्षण को अवश्य गिनना चाहिये; किन्तु यह न समझना चाहिए कि यह स्त्री-स्वभाव का प्रकृतिसिद्ध अङ्ग है; बल्कि जिन संयोगों में स्त्रियाँ हैं उसका यह एक स्वाभाविक परिणाम है। पुरुषों में जो नाम अमर करने की इच्छा होती है उसे शिक्षा और लोकाचार के द्वारा विशेष उत्तेजना मिलती है। कहा जाता है कि नाम अमर करने की इच्छा अर्थात् कीर्त्ति का लोभ मन की निर्व्वलता का एक लक्षण है, फिर भी सब सुखों से उदासीन बन कर और विषय-सुख को तुच्छ समझ कर केवल कीर्त्ति के लिए निरन्तर, अविश्रान्त परिश्रम करना, ऊँचे स्वभाव का एक अङ्ग है। तथा कीर्त्तिमान् पुरुष के लिए महत्त्वाकाङ्क्षा के सब दरवाज़े खुल जाते हैं, इसलिए कीर्त्ति के प्रेम को उत्तेजना मिलती है। ऐसा कीर्त्ति-सम्पन्न मनुष्य स्त्रियों का भी अनुग्रह प्राप्त कर सकता है। किन्तु स्त्रियों के

लिए तो ये दरवाजे सदा के लिए बन्द रक्खे जाते हैं। बल्कि स्त्रियों के मन में कीर्त्ति का लोभ होना या अपना नाम चलाने की इच्छा होना—स्त्री-धर्म के लिए अनुचित समझा जाता है। फिर स्त्री के मन में रात-दिन और प्रतिपल यह ख़याल बना रहता है कि जिनके साथ उसका रात-दिन सम्बन्ध है उनके मन में अपने लिए अच्छा ख़याल बना रहे, उसका लक्ष्य सदा यही रहता है इस में आश्चर्य ही क्या है? क्योंकि समाज ने चारों तरफ़ से उन के मनो में यही ठूंस-ठूंस कर भर दिया है कि तुम्हारा इस संसार में केवल यही कर्त्तव्य है कि पुरुषों के फ़ायदे को अपने सामने रख कर ही हर एक काम करो। समाज का सङ्गठन ही इस प्रकार का है कि स्त्रियों के सुख की डोर कुटुम्ब के पुरुषों के पैरों में बँधी रहती है। चाहे पुरुष हो या स्त्री दोनों को यह इच्छा होती ही है कि लोगों में उनकी इज्जत बढ़े, चार आदमी उन्हें भला कहें। पर समाज ने ऐसा क़ानून बना डाला है कि स्त्री की इज्ज़त तभी बढ़े जब उसके मालिक या घर वालों की आबरू में वृद्धि हो—अर्थात् जब तक उस कुटुम्ब का पुरुष वर्ग अंधेरे में होता है तब तक उस कुटुम्ब की स्त्री चाहे जितनी बुद्धिमती हो किन्तु उसे कोई पहचानता ही नहीं। स्त्रियों को स्वतन्त्र रीति से कोई देखता ही नहीं, बल्कि संसार में जो थोड़ी-बहुत उनकी इज्जत होती है वह फलाने की बहू, फलाने की बहन या फलाने की बेटी के नाम से होती है।

यह बात तो कुटुम्ब से बाहर वाली प्रतिष्ठा की है, पर कुटुम्ब के भीतर ऐसी दशा होती है कि जो स्त्री किसी बात में अपने मत को प्रधान रखने की कोशिश करे, या जो स्त्री बात-बात में पुरुषों की हाँ में हाँ मिलाना छोड़ कर अपना नाम आगे बढ़ाने की इच्छा करे—तो वह अपने कुटुम्ब की प्रेमपात्री नहीं रहती—अर्थात् जो स्त्री कोई भला काम करके भलाई अपने नाम पर नहीं लेती, बल्कि पुरुषों को ही उसे देदेती है, और खुद पुरुषों के पीछे ही बनी रहती है तो वह स्त्री अच्छी समझी जाती है, और जिस स्त्री का बर्ताव इस से उलटा होता है उसी की निन्दा की जाती है—वही बुरी कही जाती है। जो मनुष्य उस व्यक्ति की तुलना कर सकता होगा जिसने अपनी तमाम उमर कुटुम्ब या समाज में एक ही प्रकार से बिताई हो—और उस एक ही प्रकार के कारण उसके मन पर उस स्थिति का जो बड़ा भारी प्रभाव हुआ होगा, इसे जो समझ सकता होगा, वह झट समझ जायगा कि स्त्री-पुरुष की प्रकृति में और मानसिक प्रवृत्ति में जो भेद दीखता है, तथा ख़ास जिन भेदों के कारण स्त्रियाँ पुरुषों से कम समझी जाती हैं—ये सब भेद पैदा होने का कारण दोनों की सामाजिक तथा कौटुम्बिक स्थिति के भेद हैं। इस भेद के कारण उन के मनों पर पैदा होने वाला न्यारा-न्यारा असर और इस असर के कारण ख़ास तरह का बर्ताव रखने की टेव है।

२५—अभी स्त्री-पुरुषों के मानसिक और बुद्धि-विषयक भेदों को एक ओर छोड़ कर केवल नैतिक भेदों के विषय में विचार करेंगे तो मालूम होगा कि स्त्रियाँ पुरुषों से अधिक उच्च हैं। लोग इस बात को अपने ही मुँह से स्वीकार करते हैं कि स्त्रियाँ अधिक नीतिमान् और सदाचार-सम्पन्न हैं। पर यह कह देना कोरी ऊपर की बातें बनाने के बराबर है, और ऐसी बातों को सुन कर जिन स्त्रियों में कुछ भी बुद्धि है उन के मन में तिरस्कार और खेद पैदा हुए बिना नहीं रहता। क्योंकि लायक़ आदमी के नालायक़ की ताबेदारी में रहने की प्रथा अब संसार में कहीं नहीं है और इस तरह के सम्बन्ध को कोई भी मनुष्य अच्छा कहने के लिए तैयार नहीं है। पर स्त्री-पुरुष के इस प्रकार के सम्बन्ध को ही स्वाभाविक कहते हैं। स्त्रियाँ पुरुषों से अच्छी हैं, यह कोरी मुँह से कहने की बात यदि किसी उपयोग में आसकती है तो सिर्फ़ इस ही में कि, सत्ता भोगते रहने के कारण पुरुष नीतिभ्रष्ट होते हैं और इससे यह सिद्ध होता है; क्योंकि स्त्रियाँ पुरुषों से विशेष सदाचार-सम्पन्न होती हैं। यदि यह बात सत्य हो तो इससे यही अनुमान निकलता है कि सत्ता के कारण पुरुषों की नीति शिथिल हो जाती है। यह चाहे जैसे हो, किन्तु संसार का यह एक बड़े लम्बे समय का अनुभव है कि ग़ुलामी की चाल जो कि नीति की दृष्टि से देखने पर ग़ुलाम और उनके स्वामी दोनों को हानि पहुँचाने वाली है, फिर ग़ुलाम की अपेक्षा

उसके मालिक पर शिथिलता का असर ज़ियादा होता है। दूसरों पर अनियन्त्रित अधिकार भोगने वाले मनुष्यों की नीति जैसी बिगड़ जाती है वैसी अधिकार की दाब में रहने वालों की नहीं बिगड़ती। अर्थात् बिना किसी अङ्कुश के दूसरों पर मनमानी करने वालों की नैतिक प्रकृति जैसी शिथिल होती है वैसी दूसरे के अधिकार में रह कर दाब सहने वाले की नहीं होती। और फिर वह सत्ता चाहे मनमानी हो या कुछ नियमों से बँधी हो, पर उस में विशेष हेरफेर नहीं होता। यह कहा जाता है कि, फ़ौजदारी कचहरी में पुरुष-अपराधियों की अपेक्षा स्त्रियाँ बहुत ही कम जाती हैं। जेलख़ाने में भी स्त्री-अपराधियों की संख्या कम होती है। प्रत्येक जाति के ग़ुलामों के विषय में भी यही बात कही जाती है। जो आदमी दूसरों के दबाव में होते हैं वे बार-बार क़ुसूर नहीं कर सकते, और यदि वे क़ुसूर करते हैं तो अधिकांश या तो अपने मालिक के कहने से या अपने मालिक के फ़ायदे के लिए। साधारण मनुष्यों की बात तो एक ओर रहने दो, पर रात-दिन मनुष्य स्वभाव का अनुभव करने वाले विद्वान् भी बिना कुछ सोचे-विचारे स्त्रियों की मानसिक प्रवृत्ति को नीचा स्थान देते हैं और उनकी नैतिक प्रकृति की प्रशंसा करते हैं। इससे यह साफ़ समझ में आता है कि, सामाजिक संयोग मनुष्य की प्रकृति में कितना लौट-फेर कर डालते हैं—इस ओर लोग कितनी लापरवाही दिखाते हैं।

२६—नीति में स्त्रियों को विशेष भलमनसाहत का बखान पुरुष करते अवश्य हैं; किन्तु दूसरी ओर वे यह भी कहते हैं कि, उनके स्वभाव में एक तरफ़ झुकने की आदत विशेष होती है। लोगों का कहना है कि, स्त्रियाँ अपनी पक्षपात वाली आदत नहीं छोड़ सकतीं। वे राग, द्वेष, ममता और तिरस्कार आदि मनोविकारों के वश झट होजाती हैं, इसलिए विवेक निश्चित नहीं होसकता; थोड़ी देर के लिए यदि हम इसे सच मान लें, तो पुरुष जितनी बार अपने स्वार्थसाधन के लिए पक्षपात करते हैं या उलटा रास्ता पकड़ते हैं, उनकी अपेक्षा अधिक बार स्त्रियाँ अपने मनोविकारों के वश होकर पक्षपात करती हैं—यह सिद्ध करना अभी बाक़ी है। यदि यह बात सिद्ध हो जाय, तो इससे यह साबित होगा कि स्त्री-पुरुष के व्यवहार में इतना ही भेद है कि पुरुष जिस दशा में अपने निजू स्वार्थ के लिए कर्त्तव्यभ्रष्ट या समाजहित से पराङ्मुख होता है, उस दशा में स्त्रियाँ दूसरों के लाभ के लिए कर्त्तव्यभ्रष्ट होती हैं। क्योंकि जिसे केवल उनका निजू कह सकें ऐसा कुछ भी समाज ने उनके लिए नहीं रक्खा। फिर यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि, समाज की ओर से स्त्रियों को जो शिक्षा दी जाती है, वह हृदय में घुस कर ऐसा परिणाम पैदा करती है कि संसार में हमें यदि किन्हीं अन्य प्राणियों के प्रति अपना कर्त्तव्य पूरा करना है तो वह केवल अपना ही कुटुम्ब है—अर्थात् कुटुम्ब के लाभ को

छोड़ कर संसार के मनुष्यों से कोई वास्ता नहीं। उन्हें सम्पूर्ण संसार की भलाई सोचने—बड़े-बड़े परोपकार के रहस्य समझने की शिक्षा ही नहीं दी जाती—उस विशाल शिक्षा के मूल तत्त्वों का उन्हें अभ्यास ही नहीं कराया जाता। इसलिए इस विषय में स्त्रियों को, जो दोष दिया जाता है उसका सीधा अर्थ यह होता है कि, कर्त्तव्य के विषय में स्त्रियों की जैसी समझ बना डाली जाती है—अर्थात् एक पुरुष के प्रति अपना कर्त्तव्य पूरा करने की स्वाधीनता जैसी समाज से उन्हें मिलती है, उसे वे पवित्रता-पूर्वक पूर्ण करती हैं।

२७—जिनके हाथ में अधिकार या सत्ता होती है और जब उन्हें यह विश्वास हो जाता है कि हमारे नीचे दबे हुए अनधिकारियों को यदि अब हक़ न देंगे तो वे सामना करके या लड़-झगड़ कर हक़ लिए बिना न मानेंगे,—उस ही समय वे उनके माँगने के अनुसार हक़ देते है। राज़ी-खुशी से अधिकार देना कोई पसन्द ही नहीं करता। यह संसार के अनुभव की बात है। इसलिए अपनी पराधीनता के खिलाफ़ स्त्रियाँ जब तक घोर आन्दोलन न करेंगी तब तक इस पराधीनता के विरुद्ध चाहे जैसी ज़ोरदार दलीलें पेश की जायँ, पर उनका असर कुछ नहीं होगा। तब तक पुरुषों की ओर से यही कहा जायगा कि, अपनी हालत के बारे में स्वयं स्त्रियाँ जब कुछ नहीं कहना चाहतीं—तो यही सिद्ध है कि वे अपनी मौजूदा हालत को पसन्द करती हैं। स्त्रियाँ अपनी पराधीनता के

खिलाफ़ आन्दोलन नहीं करतीं, इसलिए पुरुष कुछ और अधिक समय तक ऐसे ही अधिकार भोगते रहेंगे, पर इसका मतलब यह नहीं हो सकता कि पुरुष जो कुछ अधिकार भोगते है वे अन्याय से भरे नहीं,—इसे तो कोई कह ही नहीं सकता। बल्कि पूर्व के देशों में जहाँ स्त्रियाँ परदों के भीतर ज़नानख़ानों में बन्द रहती है, वहाँ भी ऐसी ही दलीलें पेश की जा सकती हैं। योरप की स्त्रियों के समान घूमने-फिरने की स्वाधीनता के लिए वे ज़रा भी चूँ नहीं करतीं; बल्कि परदे वाली स्त्रियाँ यूरोपीय स्त्रियों को हद से ज़ियादा ढीठ, निर्लज्ज और स्त्री-धर्मशून्य समझती हैं। समाज की प्रचलित रूढि के खिलाफ़ आवाज़ उठाने वाले पुरुषों ही की संख्या बहुत ही कम होती है; और जो संसार के और किसी समाज की प्रचलित रूढ़ियों को नहीं जानते—जिन्हें कुए के मेंडक की तरह संसार का ज्ञान ही नहीं होता उनमें अपनी स्थिति पर असन्तोष प्रकट करने वालों का निकलना बहुत ही कठिन है। फिर भी यह नहीं कहा जासकता कि अपनी स्थिति के विषय में स्त्रियाँ कुछ भी नहीं कहतीं—फिर भी स्त्रियों के लेखों में दुखों की आहें सुनाई देती हैं। जब तक पुरुषों को यह ख़याल नहीं था कि ऐसे लेखों में कुछ व्यावहारिक हेतु भी है तब तक ऐसे लेख बहुत निकले। अपनी दशा पर असन्तोष प्रकट करके मनुष्य जो कुछ उज़्र करता है वैसा ही उज़्र स्त्रियो के लेखो में भी है; उनमें

किसी को दोष नहीं दिया जाता, या प्रस्तुत स्थिति में लौट-फेर करने का उद्देश नहीं दिखाया जाता। पर यह ध्यान में रखना चाहिए कि यदि अधिकार भोगने वाले पुरुष-वर्ग के प्रति स्त्रियाँ प्रकट रूप से आन्दोलन नहीं करतीं तब भी हर एक स्त्री अपनी सखियों के सामने अपने पति के घातकी व्यवहार की शिकायत तो करती ही है। गुलामी के जितने तरीक़े हैं उन सब में यह बात ऐसे ही हुआ करती है; और ख़ास करके जब बन्धन टूटने का समय निकट होता है तब तो यह बात ऐसे ही होती है। शुरू में ज़मींदारों के ख़िलाफ़ किसानों की शिकायत नहीं थी; किन्तु उस शिकायत का कटाक्ष ज़मींदारों की इस बात के ख़िलाफ़ था कि वे लोग अपनी सत्ता का दुरुपयोग करते हैं, तथा किसानों पर अत्याचार होता है। साधारण-वर्ग के मनुष्यों(Commons) ने पहली ही पहली बार राजा से यही अधिकार माँगा था कि उन्हें स्थानीय बातों के विषय में हक़ दिये जायँ; इसके बाद उन्होंने यह माँगा कि उनकी सम्मति के बिना राजा कोई नया कर न लगावे—किन्तु पहली ही बार यदि किसी ने राज्याधिकार में हिस्सा माँगा होता, तो उसकी बात सब को उद्धतता से ही भरी मालूम होती। उस ज़माने में राजा के ख़िलाफ़ आन्दोलन करना जितना निन्द्य और अघटित घटना समझी जाती थी—आज-कल के ज़माने में उतनी ही निन्द्य और अघटित घटना यदि कोई समझी

जाती है—और वह भी किसी और कारण से नहीं, बल्कि प्रचलित लोक-रीति ही से—तो वह स्त्रियों का अपनी पराधीनता के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाना ही है। जो स्त्री ऐसी बातों में शामिल होने की हिम्मत करती है—जिन्हें उसका पति पसन्द नहीं करता—तो उसे इसके लिए बहुत कुछ सहना पड़ता है; और ऐसा होने पर भी इष्ट हेतु सफल नहीं होता; क्योंकि क़ायदे के अनुसार पति अपनी स्त्री पर अङ्कुश रख सकता है। जब तक सच्चे मन से स्त्रियों की सहायता करने के लिए बहुत से पुरुष तैयार न होंगे, तब तक केवल स्त्रियों का अपनी पराधीनता के ख़िलाफ़ कमर कस कर खड़ा होना महा कठिन काम है।

चौथा अध्याय।

१—अब केवल एक ही प्रश्न का निर्णय करना बाक़ी है। यह प्रश्न पहले प्रश्नों से किसी प्रकार कम नहीं है, क्योंकि अब तक के प्रमाणों और दलीलों से जिन प्रतिपक्षियों के विचार कुछ ढीले पड़े होंगे, वे इस प्रश्न को आग्रह-पूर्वक उठावेंगे। यह प्रश्न है :—अपने प्रचलित रीति-रिवाजों में फेरफार या संशोधन करने से किन-किन फ़ायदों की सम्भावना है? यदि स्त्रियों को पूरी स्वाधीनता देदी जाय तो क्या मनुष्य-जाति की हालत में कुछ सुधार होना मुमकिन है? और यदि कोई लाभ होना सम्भव न हो, तो लोगों के मन में बिना कारण क्षोभ पैदा करने से और केवल कल्पित हक़ के नाम से समाज में खलबलाहट मचाने से क्या फ़ायदा?

२—मैं समझता हूँ कि प्रचलित विवाह-पद्धति के फेर-फार करने में तो कोई ऐसा प्रश्न उठावेगा। पर एक-एक पुरुष के अधिकार में एक-एक स्त्री के सौंप देने से जो सङ्कट, दुराचार और अनेक प्रकार के अनर्थों के असंख्य उदाहरण हमारे देखने में रोज़ आते हैं, उनको ओर से आँखें मींचने

पर काम नहीं चल सकता। जिन लोगों को विचार करने की आदत नहीं होगी या जो शुद्ध अन्तःकरण वाले नहीं होंगे वे, जितने नीच से नीच उदाहरण होंगे या जितने प्रकाश में आ सके होंगे—केवल उन्हीं को गिनती करेंगे, और फिर यह कहेंगे कि ऐसी बातें बुरी अवश्य हैं; किन्तु ऐसा तो कोई मनुष्य न होगा जो इन उदाहरणों के अस्तित्त्व को, या इनकी नीचता को स्वीकार न करे। इसके साथ ही यह बात भी निश्चित है कि जब तक पुरुषों के हाथ में अधिकार बने रहेंगे, तब तक उन अधिकारों पर चाहे जितने अङ्कुश रक्खे जायँ,—किन्तु अधिकारों के दुरुपयोग को वे अङ्कुश रोक ही न सकेंगे। फिर स्त्रियों का अधिकार केवल सब प्रकार से सभ्य और सज्जनों को ही नहीं दिया जाता; बल्कि एक-एक आदमी उस अधिकार का हिस्सेदार समझा जाता है और उसे वह भोगता है। जङ्गली से जङ्गली और दुष्ट मनुष्य भी इस अधिकार से ख़ाली नहीं रहता। इस अधिकार पर लोकमत को छोड़ कर और किसी का अंकुश नहीं होता, और ऊपर कहे हुए नराधम मनुष्यों को तो अपने वर्ग से बाहर वालों की कुछ परवा ही नहीं होती; ऐसे नीच से नीच और दुष्ट मनुष्यों से ऐसी आशा रखना व्यर्थ है कि वे ऐसे अपने अधीन प्राणी पर अत्याचार न करें, जिसे क़ायदे और समाज ने उन्हें सौंप दिया हो और जिसके नीच व्यवहार की शिकायत सुनने के लिए कोई तैयार न हो। उनसे यह आशा रखनी

व्यर्थ है। यह कभी न समझना चाहिए कि यह पृथिवी स्वर्ग बन गई है; यदि यह पृथ्वी स्वर्ग हो तो दुष्ट मनुष्यों की मनो-वृत्तियों को रोकने के लिए क़ानून बनाने की ज़रूरत ही न रहे। फिर यह मानना चाहिए कि नीच से नीच मनुष्य के हृदय में पवित्रता देवी का निवास है। आज-कल के ज़माने में जो सब नियम और रीतियाँ उदार नियमों पर चलाई जाती हैं उस उदारता में विवाह की पराधीनता वाला नियम कलङ्क के समान माना जाता है; असङ्गत जान पड़ता है। आज-कल के ज़माने में तमाम व्यवहार जिन नियमों पर चलाये जाते हैं, वे मनुष्य-जाति के कड़े परिश्रम और लम्बे अनुभव के अन्त में स्वीकार किये गये हैं; फिर विवाह-सम्बन्ध को उसी प्रथा पर चलने देने से उस अनुभव पर पानी फिरने के सिवा और कुछ नहीं होता। नीग्रो लोगों को ग़ुलाम बनाने की प्रथा अभी बन्द होगई। इसलिए इस समय संसार में ग़ुलामी की केवल एक ही प्रथा बाक़ी है तथा वह ग़ुलामी भी कितनी विचित्रताओं से भरी है। प्रत्येक मानसिक शक्तियुक्त एक मनुष्य-प्राणी एक मनुष्य-प्राणी के हाथ में सौंप दिया जाता है—और उस प्राणी को सब तरह की आज़ादी होती है कि वह उससे चाहे जैसा व्यवहार करे—यह आज़ादी भी इस आशा से कि अधिकारी-प्राणी अपने अधिकार का उपयोग अधीन प्राणी के लाभ के लिए ही करेगा। इस ज़माने में क़ायदे से मानी हुई

ग़ुलामी का यदि कोई हिस्सा बाक़ी है तो वह विवाह-सम्बन्ध ही है। आज क़ानूनन कोई किसी का ग़ुलाम नहीं है; केवल हर एक कुटुम्ब की स्त्री ही इसका अपवाद है।

३—इससे साफ़ ज़ाहिर होता हैकि, प्रचलित रीति-रिवाजों का संशोधन करने से क्या लाभ होगा—प्रचलित विवाह-विधि को नये साँचे में ढालने से क्या फ़ायदा होगा। शायद कोई यह कहेगा कि तुम्हारे कहने के मुताबिक़ लौट-फेर करने में फ़ायदे की जगह नुक़सान ज़ियादा होगा. पर यह बात तो माननी ही पड़ेगी कि फिर भी फ़ायदा ही होगा। इससे भी अधिक महत्त्व का यह प्रश्न है कि स्त्रियाँ जो बहुत से कामों के अयोग्य समझी जाती हैं—यह अयोग्य समझने की प्रथा बन्द होनी चाहिए। उदाहरण के तौर पर स्वाधीन नागरिक (Citizenship) के सब अधिकार उन्हें एक पुरुष के समान भोगने दो। उन्हें तमाम इज़्ज़त-आबरू और प्रतिष्ठा वाले कामों के करने की आज़ादी होनी चाहिए; साथ ही इन सब कामों की शिक्षा उन्हें देनी चाहिए। इस स्थल पर, इस सम्बन्ध में, ऐसे कहने वाले बहुत से पुरुष निकल आते हैं जो कहते है कि इतना ही साबित करने से बस न होगा कि, स्त्री-पुरुषों की असमानता का कोई वाजिब और ज़ोरदार कारण नहीं है—इससे कुछ होना जाना नहीं—बल्कि यह साफ़ तौर से बता देना चाहिए कि इस असमानता को दूर कर देने से प्रत्यक्ष रीति से क्या-क्या लाभ होंगे।

४—इसके उत्तर में मेरा सब से पहले तो यही कहना है कि मनुष्यों के सब प्रकार के सम्बन्धों में सब से अधिक व्यापक और सार्वत्रिक जो स्त्री-पुरुषों का सम्बन्ध आजतक अन्याय की नींव पर चला आरहा था वह मिट कर न्याय की भित्ति पर स्थापित होगा—पहला फ़ायदा तो यही है। यह व्यवस्था मनुष्य-समाज के लिए कितनी कल्याणकर और हितदायक होगी—इसे समझने के लिए बड़ी भारी विवेचना या उदाहरणों की आवश्यकता नहीं हैं। "अन्याय के स्थान पर न्याय का राज्य होगा"—इस वाक्य के नैतिक रहस्य को जो मनुष्य समझता होगा वह इसके विशद करने को नहीं कहेगा। मानवी स्वभाव में जो स्वार्थ-साधक प्रवृत्तियाँ है, अन्याय के द्वारा मतलब निकाल लेने की जो आदत है, तथा अपने आप को जो संसार से ज़ियादा अक़्लमन्द समझने का अहंभाव है—इन सब का मूल या उत्पत्ति-स्थान और इन भावों का पोषण करने वाला और कोई नहीं,—केवल स्त्री-पुरुषों का वर्तमान ढंग का सम्बन्ध है। मान लो कि, कोई लड़का नादान, नासमझ और मूर्ख हो पर बचपन से ही उसके मन में ऐसी बातें भर दी जायँ कि, "मुझ में ज़रा भी लियाक़त नहीं है, फिर भी मैं पुरुष-कोटि में जन्म होने के कारण मनुष्य-जाति के बिल्कुल आधे भाग से—यानी सम्पूर्ण स्त्री-वर्ग से अधिक अच्छा और श्रेष्ठ हूँ, और प्रत्येक स्त्री का अधिकार भोगने का हक़दार हूँ" तो ऐसे विचारों का असर

उसके भविष्य-जीवन पर कैसा होगा, इसका ज़रा विचार करो! संसार भर की जिन स्त्रियोंको वह अपनेसे नीची समझता है और अपने तईं उनपर अधिकार भोगने का हक़दार समझता है उनमें हज़ारों-लाखों स्त्रियाँ ऐसी होंगी जो उससे सैकड़ों और हज़ारों गुणी अधिक बुद्धिमती और होशियार होंगी। उसे प्रति दिन और प्रतिपल इसका अनुभव भी होता रहता है। यद्यपि वह अपनी उमर भर एक ही स्त्री की सलाह के अनुसार चला करता है फिर भी, यदि वह सचमुच मूर्ख होता है तो यही मानता है कि,—"इसमें मेरे बराबर अक़्ल और मेरे बराबर समझ हो ही कहाँ से सकती है"—और यदि वह मूर्ख नहीं है तो परिणाम इससे भी ख़राब होता है, क्योंकि उसे यह ज्ञान होता है कि स्त्री मुझ से अधिक होशियार है, पर वह मानता है कि यह मुझ से ज़ियादा होशियार है तो इससे क्या हुआ? इस में चाहे जितनी बुद्धि हो, पर सदा मैं इसके ऊपर रहने का हक़दार हूँ और यह मेरी आज्ञा में रहने के लिए क़ानूनन बँधी है! ऐसी समझ का परिणाम उसके बर्ताव पर कैसा होगा, सो सहज ही समझा जा सकता है। सुशिक्षित श्रेणीवाले मनुष्यों को भी इस का ज़रा भी ख़याल नहीं होता कि, पुरुषों के सब से बड़े भाग में इस समझ की जड़ कितनी गहरी होती है। क्योंकि कुटुम्ब के शिक्षित और समझदार आदमी इस बात का बड़ा ख़याल रखते हैं कि, स्त्री-पुरुषों की असमानता जितनी हो सके

उतनी कम प्रकट हो और ख़ास करके बच्चों के सामने इस बात को नहीं आने देते। बच्चे जितना सम्मान पिता का करते हैं उतना ही माता का भी सम्मान करना उनको सिखाया जाता है; उन्हें इस बात की मनाही की जाती है कि वे अपने से अपनी बहनों को नीची न समझें, और ऐसा बर्ताव करते हैं कि जिस से लड़का समझे कि, "मैं मा-बाप को अधिक प्रिय हूँ और बहनों की अपेक्षा मुझे सब चीज़ें अच्छी मिलती हैं" बल्कि उनका बर्ताव ऐसा होता है कि इसके ख़िलाफ़ ही उनका ख़्याल होता है। लड़कों के मन सदा इस प्रकार शिक्षित होते रहते है कि लड़कियाँ क़ुदरत से ही कमज़ोर होती हैं इसलिए उनके साथ ऐसा व्यवहार करना चाहिए जिससे उन्हें सन्तोष हो, तथा लड़कियों को जो पराधीनता प्राप्त होती है उसकी कल्पना लड़कों के मन में उठने से रोकी जाती है। इन बातों के कारण कुटुम्ब में पैदा हुए बालक बाल्यावस्था तक कुटुम्ब के चारों ओर होने वाली इन बातों से मुक्त होते हैं, और जब वे युवा होते है और अपनी आँखों से प्रत्यक्ष व्यवहार देखते हैं तभी उन्हें वास्तविक स्थिति का ज्ञान होता है। जिन लड़कों को कुटुम्ब में इस प्रकार की शिक्षा नहीं मिलती, उनके मनों में अपने आप को लड़कियों से अच्छा समझने का ख़्याल कितने छोटेपन से पैदा होता है, यह बात ऊपर कहे हुए कुटुम्ब वालों को मालूम ही नहीं होती। लड़के यही समझते है कि, 'हम लड़के है इसलिए

लड़कियों से तो अच्छे ही हैं, तथा उनकी उमर जैसे-जैसे बढ़ती जाती है यह ख़याल भी वैसे ही वैसे बढ़ता जाता है। पाठशालाओं में भी लडके एक दूसरे के मन पर यही समझ ठूँसते हैं। हर एक लडका बचपन से ही अपनी क़ौम को अपनी मां की क़ौम से अच्छा समझता है। और फिर वह जिस स्त्री को अपनी पत्नी बनाता है उससे अपनी बराबरी करते हुए तो अपने आप को श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठ समझता है।

क्या लोग यह ख़याल करते होंगे कि ऐसी समझ से मनुष्य के बर्ताव पर शिथिलता का असर नहीं होता होगा? क्या इस कारण से मनुष्य का स्वभाव बदले बिना रह सकता होगा? राज-घराने में पैदा होने के कारण जैसे राजाओं को जन्म से ही अपनी श्रेष्ठता का ख़याल होता है, यह ख़याल भी मनुष्य में वैसा ही असर पैदा करता है। स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध मालिक और नौकर या गुलामों के सम्बन्ध से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। अन्तर इतना ही है कि, स्त्रियों की गुलामी और भी अधिक सख़्त है। दासत्व भोगने के कारण गुलाम के व्यवहार पर जो भला या बुरा असर होता होगा उसे तो एक ओर रहने दीजिए, पर इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि उसके मालिक पर तो शिथिलता का ही असर होता है। वह सुस्त ही बनता है। ऐसे अधिकार भोगने वाले मालिक यदि यह मानते हों कि दासवर्ग वाले सचमुच हम से योग्य हैं, और यदि योग्य नहीं तो बराबर के

तो है ही, और उन पर हम जो सत्ता या अधिकार भोगते हैं, वह अपनी योग्यता या मिहनत का फल नहीं है, बल्कि फिगारो (Figaro) के कथनानुसार यह जन्म लेने की तकलीफ़ का फल है। इन में से चाहे जौन सा विचार उनके मन में पैदा होता हो और फिर भी वे अधिकार भोगे जा रहे हों, पर हमें उन के चरित्र के विषय में क्या राय ठहरानी चाहिए ? राजा या गुलामों के मालिक अपने आप को जितना पूज्य समझते है, पुरुष-वर्ग का प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको उतना ही पूज्य समझता है। यह मनुष्यों के स्वभाव की एक साधारण प्रवृत्ति होती है कि जिस अधिकार के लिए उन्हें काम नहीं करना पड़ता और जिस के अधिकारी वे बचपन से ही हो जाते है उसके विषय में वे दूनकी हाँका करते है। इस संसार में ऐसे मनुष्य बहुत ही थोड़े हैं, और वे थोड़े ही सर्वोत्तम है, जो समझते हों कि अमुक अधिकार के हम किसी प्रकार योग्य नहीं है, यह समझते हुए भी यदि उन्हे वह अधिकार मिल जाय तो उसके विषय में जिन्हें अभिमान न हो। बाकी अधिकांश मनुष्य तो अभिमान से बहक ही जाते हैं, क्योंकि उनका गर्व परिश्रम से प्राप्त की हुई चीज़ के बदले में न होकर अनायास प्राप्त हुई चीज़ से होता है, और इसलिए वे अपनी जाति को सर्वोत्तम मानते है। एक तो पुरुष जन्म से ही अपनी जाति को स्त्रियों की जाति से श्रेष्ठ मानता है, दूसरे उसे उसी जाति के एक व्यक्ति पर बे-रोकटोक हुकू-

सत करने का अधिकार होता है, ऐसी स्थिति में लगाम कहाँ रह सकती है? दूसरी ओर जिन मनुष्यों के हृदयों में वास्तविक प्रेम के अङ्कुर होते हैं, उनके लिए यह स्थिति सद्-सद् बुद्धि, समता, सहिष्णुता, उदारता आदि उत्तम गुणों की पुस्तक के समान हो जाती है; किन्तु जो पुरुष इस स्वभाव से उलटे स्वभाव वाले होते हैं उनके लिए यह स्थिति उन्मत्तता, तुच्छता और मिथ्याभिमान का सबक बन जाती है। अन्य मनुष्यों के साथ यानी बराबर वालों के साथ व्यवहार में वही मनुष्य अपने दुर्गुणों को दबा रखता है—क्योंकि वह यह समझता है कि ये मेरे दुर्गुण सहन करने वाले नहीं; पर वही मनुष्य अपनी स्त्री के सामने अपने मन को संयम में रखना उचित ही नहीं समझता, क्योंकि वह जानता है कि यह मेरी बात का पलट कर जवाब भी नहीं दे सकती। घर से बाहर के सब कामों में वही मनुष्य प्रत्येक व्यवहार में अपने मन को कुछ न कुछ सयम में रखता है, पर घर में आकर वह सब बुख़ार विचारी अभागी स्त्री पर निकालता है। बाहर का क्रोध अबला स्त्री पर निकाला जाता है।

५—इस प्रकार कौटुम्बिक जीवन की दीवार जिस नींव पर खड़ी की जाती है, वह परस्पर के समझौते तथा न्याय के असंगत होने के कारण, मनुष्यों के मनों पर जो बुरा प्रभाव डालती है उसका परिणाम बहुत ही भद्दा और दूषित होता है, और मनुष्य का स्वभाव ऐसा है कि यह परिणाम होना

ही चाहिए। इसलिए स्त्री-पुरुषों के ऐसे भद्दे सम्बन्ध को दूर करके यदि इसकी स्थापना न्याय पर की जाय तो इसके कारण समाज का स्वरूप इतना सुधर जायगा कि हमारे इस समय के अनुभव से हम उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते! जब तक दुश्मनों की उस जगह पर हमला नहीं किया जाता जहाँ से उन्हें खाने-पीने की चीज़ें मिलती रहती हैं तब तक उन पर जय प्राप्त करना असम्भव होता है; चारित्र्य के सुधार में भी जब तक उसकी जड़ों तक न पहुँचा जायगा तब तक "लाठी उसकी भैंस" वाले न्याय पर स्थापित स्त्रियों का सम्बन्ध व्यक्ति मात्र के स्वभाव और चरित्र पर जो शिथिलता का असर करता है वह शिक्षा और सुधार का गीत गाते रहने से ही मनुष्यों के मन से नहीं निकल सकता। क्योंकि और बातों का असर ऊपर ही ऊपर होता है भीतर नहीं वेधता। सद्वर्तन ही मनुष्य को सम्मान-योग्य बनाता है, यह नीति और राजनीति का तत्त्व आजकल सर्वमान्य हो रहा है। मनुष्य कुलीनता या धनाढ्यता से सम्मान का पात्र नहीं समझा जाता, किन्तु यदि उसका व्यवहार उत्कृष्ट और नीतियुक्त हो तभी हम उसे सम्मान-योग्य समझेंगे। इस ही प्रकार विशेष स्थिति या विशेष कुल में जन्म लेने के कारण कोई व्यक्ति अधिकारों का पात्र नहीं हो सकता, बल्कि जिसकी जैसी योग्यता होती है वह वैसे ही अधिकार भोगने के योग्य समझा जाता है *। किन्तु विवाह-सम्बन्ध में जब एक मनुष्य-

* गुणा॰ -पूजास्थान गुणिषु न च लिङ्गं न च वय॰।

प्राणी को एक मनुष्य-प्राणी का अधिकार दे दिया जाता है तब उसका परिणाम यह होता है कि, समाज एक ओर तो एक मनुष्य की दुष्ट प्रवृत्तियों को बढ़ाता है और दूसरे व्यक्ति से उत्तम गुणों का लोप करना चाहता है। यदि ऐसी अन्याय से भरी और हानिकारक समाज की व्यवस्था एकदम बदल डाली जाय, तो समाज का जो परिश्रम व्यर्थ जाता है वह बच जाय। ऐसी व्यवस्था होने पर ही बचपन से बालक को वैसी यथार्थ शिक्षा मिलेगी जैसी आज ज़बानी बताई जाती है; जो बालक उस शिक्षा में बड़ा होगा उसके अनुचित मार्ग पर चलने की सम्भावना बहुत ही कम होगी। किन्तु जब तक निर्बलों पर बलवानों को अधिकार दिया जायगा, जब तक समाज के भीतर ऐसी व्यवस्था प्रचलित रहेगी, तब तक "बलवान और निर्बल के अधिकार समान हैं" इस न्याय के अनुसार व्यवहार होना असम्भव है—कमर में पत्थर बाँध कर तैरने के समान है। क्योंकि मनुष्य के भीतर वाले मनोधर्म न्याय के तत्त्व को सिर अवश्य झुकावेंगे, किन्तु उसके सर्वथा वशीभूत न होंगे और उसके ख़िलाफ़ ही बर्ताव बना रहेगा।

६—यदि स्त्रियों को उनकी शक्ति का यथेच्छ उपयोग करने और जो काम उन्हें पसन्द हो उसे करने की पूरी आज़ादी हो, तथा-उनकी बुद्धि के विकाश के लिए पुरुषों के बराबर ही जगह दे दी जाय, साथ ही पुरुषों के बराबर ही उन्हें लाभ

और उत्तेजना मिले—तो इससे दूसरा फ़ायदा यह होगा कि अब तक जितनी मानसिक शक्ति मनुष्य-जाति की सेवा कर रही थी, वह एकदम दुगनी हो जायगी। इस समय जिस काम के लिए एक लायक़ आदमी मिलता है, उस समय उसी काम के लिए दो लायक़ आदमी मिलने सम्भव हैं। समाज में से उत्तम शिक्षक, प्रतिभासम्पन्न लेखक, ईमानदार अधिकारी, कार्यकर्ता आदि भिन्न-भिन्न श्रेणियों के उत्तम सुधारक और योग्य कार्यकर्त्ता जितने आज मिलते हैं—उस समय इस से दुगने निकल आवेंगे। इस समय हमें जितने उत्कृष्ट मानसिक शक्तिवाले व्यक्तियों की आवश्यकता है, उस से कहीं कम संख्या में वे मिलते हैं। इस ही प्रकार जिन कामों में अत्युच्च बुद्धिमानों की ज़रूरत है, वैसी ऊँची प्रतिभा वालों की बहुत ही कमी है। संसार की बुद्धि का बिल्कुल आधा भाग बेफ़ायदे पड़ा है; और इसके कारण संसार को जो नुक़सान हो रहा है वह बहुत ही बड़ा है। यद्यपि यह बात तो नहीं है कि इस आधे भाग से बिल्कुल ही फ़ायदा न होता हो; क्योंकि उसका अधिक भाग घर के काम-काजों में और उन कामों में जो स्त्रियाँ कर सकती हैं जाता है, तथा उन की बुद्धि का कुछ भाग किन्हीं ख़ास-ख़ास व्यक्तियों के द्वारा समाज को भी मिलता है—और वह इस प्रकार के किन्हीं व्यक्तियों पर स्त्रियों का भी अधिकार होता है। किन्तु ये लाभ केवल अंशत: मिलते हैं, और इनकी संख्या बहुत ही

काम होती है। इस प्रकार मनुष्य-जाति की आधी बुद्धि जो व्यर्थ पड़ी रहती है, उस के बन्धनमुक्त होने से समाज के उपयोग में आने वाली बुद्धि-शक्ति की जो वृद्धि होगी, उस में से ऊपर कही हुई उपयोग-शक्ति घटानी चाहिए, यदि इस बात में हठ पकड़ा जाय, तो मुझे भी कहना चाहिए कि, दूसरी ओर स्पर्द्धा या योग्यतम की जीत के अनुसार—इसे ही दूसरे शब्दों में कहें तो अपने आप को स्त्रियों से अधिक योग्य बताने से पहले, पुरुषों को उस योग्यता के सम्पादन करने की जो ज़रूरत होगी, इस के कारण पुरुषवर्ग की बुद्धि को जो प्रोत्साहन या उद्दीपन मिलेगा—वह कम फ़ायदा नहीं होगा—उसे भी फ़ायदों में गिनना चाहिए।

७—इस प्रकार मनुष्य-जाति के समग्र बुद्धि सामर्थ्य में और विशेष कर के उस के कार्य्यों को योग्य रीति से चलाने वालों की बढ़ती में जैसी वृद्धि होगी वह ऊपर बताई गई है। पहले तो स्त्रियों को जैसी शिक्षा अब मिल रही है इस से ऊँची मानसिक शिक्षा मिलेगी, और उस शिक्षण-पद्धति में पुरुषों की शिक्षापद्धति के साथ ही साथ सुधार होता जायगा। इस के कारण स्त्रियाँ उसी वर्ग वाले पुरुषों के समान योग्य होंगी और व्यापार-धन्धे तथा सार्वजनिक कामकाजों में, और तत्त्वचिन्तन आदि गूढ़ विषयों में सब प्रकार से पुरुषों के समान अपनी बुद्धि का गम्भीर उपयोग कर सकेंगी—और वे भी पुरुषों के बराबर उत्साहित होंगी। पुरुषवर्ग वाले व्यक्ति

जैसे संसार के थोड़े से नामाङ्कित व्यक्तियों के विचार समझने की ताक़त रखते हैं, और उन के बड़े-बड़े कामों की क़ीमत समझने के अलावा ख़ुद भी बड़े-बड़े काम करने और नये विचार प्रकट करने की शक्ति रखते हैं, तथा ऐसे व्यक्तियों को अपना ज्ञान बढ़ाने और अपनी बुद्धि का विकाश करने की जैसी अनुकूलता समाज की ओर से दी जाती है—जितने साधन सुलभ किये जाते है, उतनी ही अनुकूलता और उतने ही साधन स्त्री-वर्ग की ओर से बुद्धिमती स्त्रियों को भी मिलने लगेंगी। इस प्रकार स्त्रियों के बुद्धि-व्यवसाय से मनुष्य-जाति को दुगना लाभ होगा। एक तो उनकी शिक्षा पुरुषों की शिक्षा के बराबर आपहुँचेगी, दूसरे एक की शिक्षा के सुधारों का लाभ दूसरों को भी मिलता रहेगा। यदि ऐसे होने वाले लाभों को एक ओर छोड़ देवें तब भी स्त्री-पुरुष का भिन्नभाव दूर करने से, स्त्रियों को मानसिक और नैतिक स्थिति में जो नवीनता आजायगी, वह शिक्षा की दृष्टि से देखते हुए बहुमूल्य है। विचार और व्यवसाय के बड़े-बड़े विषय तथा सार्वजनिक हित की सब बड़ी बातों में, जो केवल पुरुषों ही के लिए उपयोगी हैं और स्त्रियों के लिए जिनका दरवाज़ा बन्द है—तथा स्त्रियों की ऐसी समझ बना डाली गई है कि इस से उन्हें कोई सरोकार ही नहीं है—यदि यह समझ नष्ट हो जाय तो केवल इतनी ही बात से कितना लाभ होना सम्भव है? यदि प्रत्येक स्त्री की आँखों के आगे का

काला पर्दा हट जाय और वह समझ ले कि,—"संसार के मनुष्य-प्राणियों के समान मैं भी एक मनुष्य हूँ; अपने मन-चाहे काम को करने की मुझे भी पूरी स्वाधीनता है; मनुष्य-जाति के फ़ायदे की हर एक बात में हिस्सा लेने की मुझे भी आज़ादी है, और यदि मैं भी संसार का लाभ करूँगी तो मुझे भी पुरुषों के बराबर ही लाभ होगा। मनुष्य-जाति के लाभ में प्रत्यक्ष रूप से मैं भाग लूँ या न लूँ, फिर भी एक व्यक्ति की राय के बराबर मेरी राय का भी वज़न है, इस लिए सार्व-जनिक कामों में मुझे भी अपनी राय देने का हक़ है," यदि प्रत्येक स्त्री के हृदय और मन में इस ही प्रकार का पूर्ण विश्वास हो जाय, तो इन्हीं स्त्रियों की बुद्धि कितनी विशाल हो जायगी और नैतिक विचार कितने ऊँचे होने सम्भव हैं।

८—आज-कल के सांसारिक काम-काज और व्यवहार निवाहने के योग्य पुरुषों की इतनी बुद्धि नहीं बढ़ गई है कि प्रकृति के दिये हुए बुद्धि के आधे भाग को बेकाम बनाये रख कर भी वे अपना काम चला सकें। यदि स्त्रियों को सब प्रकार की स्वाधीनता होगी तो सांसारिक व्यवहार विशेष योग्य रीति से चलने लगेगा, और यह प्रत्यक्ष लाभ होगा। इसके अलावा आज तक मनुष्य जाति की समझ और बुद्धि पर जो स्त्रियों का असर होता था, उस में लौट-फेर हो जाने से, वह विशेष लाभप्रद होगा। स्त्रियों के असर से विशेष लाभप्रद कहने का मतलब यह है कि जब से मनुष्य-जाति का विश्वास

करने योग्य इतिहास प्राप्त हुआ है, तब से लोकमत पर स्त्रियों का विशेष असर मालूम होता है। पुरुषों के स्वभाव आदि बनने में दो बातें अधिक होती हैं, एक तो बाल्यावस्था में माता के सहवास का असर, दूसरे युवावस्था में तरुण स्त्रियों के मन में अपनी ओर से अच्छा ख़याल पैदा कराने की इच्छा;—विशेष करके ये दो बातें ही सुधार के प्रवाह को आगे बढ़ाने में कारण हुई हैं। होमर के समय में भी हेक्टर के वर्णन से नायिका की इच्छा का विशेष असर मालूम होता है। स्त्रियों के सहवास से पुरुषों के नैतिक व्यवहार पर दो तरह से असर होता है। एक तो पुरुषों के कठोर और निर्दयी हृदय सदय और कोमल होते हैं। जिस पर सत्ताधीश के अधिक से अधिक अत्याचार होने सम्भव होते हैं, उस के मन में यही होता है कि अत्याचार मर्य्यादा में रहें तथा वे अत्यन्त उग्र या भयङ्कर रूप न धारण करें—और इस के लिए वह अपने से बन पड़ती यही कोशिश करता है कि उस के मनोविकार शान्त हों और एक अङ्कुश में रहें। इस ही प्रकार जो युद्ध-कला के जानकार नहीं होते, उन्हें साधारण रीति से ही युद्ध से प्रेम नहीं होता, इसलिए भीतर के झगड़ों का निपटारा युद्ध को छोड़ कर और किसी प्रकार से फ़ैसल कर लेना उन्हें ज़ियादा पसन्द होता है। और साधारण रीति से स्वार्थ-साधक मनोविकारों का ज़ुल्म बेरोकटोक जिन का अधिक से अधिक नुक़सान कर सकता है, वे लोग ही मनोविकारों को

अङ्कुश में रखने वाले नैतिक नियमों की ज़ियादा हिमायत लिया करते हैं। उत्तर के निवासियों ने जिस समय योरप-खण्ड को जीतना शुरू किया उस समय स्त्रियों ने ही उन्हें ईसाई बनाने का काम ज़ियादा किया था; क्योंकि उस ज़माने में सब धर्म्मों की अपेक्षा ईसाई धर्म ही स्त्रियों के लिए अच्छा था। एँग्लो-सेक्सन्स और फ्रेंक्स लोगों को नवीन धर्म्म में लाने का प्रारम्भ एथलबर्ट और क्लॉविस नामक राजाओं की रानियों ने किया था।

पुरुषों के नैतिक व्यवहार पर स्त्रियों के सहवास का जो दूसरा प्रभाव होता है वह इस प्रकार है। धैर्य्य, शौर्य्य आदि पुरुषत्व के जो गुण ख़ुद उन (स्त्रियों) में नहीं होते, उनका होना अपने संरक्षकों (पुरुषों) में आवश्यक समझती हैं—इसलिए वे सदा इन गुणों के लिए उन्हें उत्साहित करती रहती हैं। प्रायः पुरुष स्त्रियों से धैर्य्य शौर्य्यादि क्षात्र गुणों की प्रशंसा सुनना पसन्द करते हैं और इसीलिए वे इन गुणों में प्रदीप्त हो उठते हैं; तथा स्त्रियों की ओर से मिलते हुए प्रोत्साहन का असर इतने ही पर समाप्त नहीं हो जाता, क्योंकि जो पुरुषवर्ग के बखान के योग्य होते हैं उन्हीं पर स्त्रियों का अनुग्रह भी होता है। इस प्रकार स्त्रियाँ जो दो नैतिक अधिकार पुरुषों पर रखती हैं, इनका मिश्रण होने से वीरकाल में "शिवेलरी" (Chivalry) की कल्पना हुई थी *।

* "शिवेलरी" (Chivalry) शब्द का अर्थ 'पराक्रम' होता है। किन्तु योरप

इस कल्पना के मुख्य लक्षण को देखेंगे तो शौर्य्यादि क्षात्र गुणों का नम्रता, उदारता, आत्मनिग्रह आदि भिन्न गुणों के साथ संयोग करना है। एक ओर तो युद्धकला में प्रवीणता प्राप्त करनी शौर्य्यादि क्षात्र गुणों में प्रदीप्त होना; दूसरी ओर निर्बलों, असमर्थों और युद्ध न करने वालों के साथ नम्रता और उदारता से बरतना; ख़ासकर के स्त्रियों में पूज्यदृष्टि, अधीनता का भाव होना; इस प्रकार के दो पारस्परिक भिन्न प्रकृति वाले गुणों का एक में संयोग करना ही "शिवेलरी" का मुख्य उद्देश था। स्त्रियों के प्रति पूज्यभाव रखने का कारण यह था कि, उन्हें बलात्कार से वश करने की अपेक्षा उनका हृदय जीतने के लिए जो पुरुष साम्योपचार को काम में लाता है, तथा उनकी प्रसन्नता प्राप्त करने की कोशिश करता है उस ही पर स्त्रियाँ प्रसन्न होती हैं और उनके अधिकार में जो कुछ देने योग्य चीज होती है उसे वे प्रसन्नता-पूर्वक दे डालती

के वीरकाल में इस शब्द का प्रयोग पराक्रम के साथ और बहुत से उदार गुणों के मिश्रण के लिए होता था। उस पराक्रमी पुरुष में उदारता, शुद्धता, नम्रता, दया, शरणवत्सलता, शत्रु की भूल का नाजायज़ फ़ायदा न उठाना, नि:शस्त्र शत्रु पर वार न करना आदि गुण अवश्य होने चाहिएँ। साथ ही वह स्त्रियों में पूज्य भाव रखने वाला हो, अबला की रक्षा करने वाला हो, संकट और विपत्तियाँ सह कर भी स्त्रियों की प्रसन्नता प्राप्त करने वाला हो। ऐसा पराक्रमी पुरुष Chivalrous spirit वाला कहा जाता था। रामायण और महाभारत में जैसे सत्यनिष्ठ योद्धाओं का उदार भाव वर्णन किया गया है, वैसे ही सत्यनिष्ठ वीर के लिए योरपके वीरकाल में 'शिवेल्लरी' की कल्पना थी।

हैं। घटना इस प्रकार घटा करती है कि किसी ख़ास विषय के सम्बन्ध में उदार कल्पना और प्रत्यक्ष व्यवहार में विशेष अन्तर होता है; और इस ही नियम के अनुसार वीरकाल में 'शिवेलरी' की प्रवृत्ति और उसकी उदार कल्पना में विशेष अन्तर था; यह बात यद्यपि सत्य है, फिर भी मनुष्य-जाति के नैतिक इतिहास में वीरकाल की 'शिवेलरी' का स्थान अवश्य ऊँचा है। यद्यपि उस समय का सामाजिक सङ्गठन बहुत ही अव्यवस्थित था और लोगों की सामाजिक स्थिति तथा भिन्न-भिन्न रूढ़ियों का स्वरूप देखते हुए नीति का प्रवाह बहुत ही धीमा था, पर ऐसी स्थिति में पले हुए लोगों ने एक उच्च नैतिक आशय की कल्पना करके उसके अनुसार अपनी जीवनी बनाने का प्रयास किया था; यही ध्यान देने और विचारने योग्य है। और यद्यपि इस ख़याल के बहुत ऊँचा होने के कारण इसका मूल उद्देश लगभग विपरीत ही था, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि यह निष्फल ही रहा, क्योंकि उन से पिछले ज़माने वाले लोगों की मनोवृत्तियों पर उसका बड़ा भारी प्रभाव हुआ है।

८—वीरकाल की नैतिक कल्पना मनुष्य-जाति के नैतिक सुधार पर स्त्रियों की इच्छा का अन्तिम परिणाम है; यदि इस काल में भी स्त्रियों की पराधीनता वैसी की वैसी ही प्रचलित रहे तो वीरकाल की वह 'शिवेलरी' वाली उदार कल्पना व्यर्थ ही नष्ट हुई; क्योंकि नीति की दृष्टि से देखते हुए स्त्रियों

की पराधीनता के कारण पुरुषों के व्यवहार पर जो बुरा प्रभाव पड़ता है, उसे नियमित रखने के लिए वह उदार कल्पना बहुत अच्छी थी। किन्तु मनुष्य-जाति के अन्यान्य सुधारों के के साथ यह नैतिक कल्पना भी बदल गई, तथा इस के स्थान को एक नई नैतिक कल्पना ने ले लिया। उस ज़माने की समाज-व्यवस्था ऐसी थी कि भला या बुरा परिणाम होने का सब आधार मुख्य व्यक्ति के पराक्रम पर अवलम्बित था—अर्थात् जो मनुष्य सब से अधिक पराक्रमी होता था उसी के हाथ में समाज की व्यवस्था चली जाती थी, इसलिए समाज के भले या बुरे का आधार केवल उसी व्यक्ति का व्यवहार होता था। ऐसे ढँग से सङ्गठित हुए समाजों में पारस्परिक प्रेम पैदा कराना, प्रत्येक व्यक्ति के आचरण में सुजनता, औदार्य्य, सौमनस्य आदि गुणों का सञ्चार करना ही 'शिवेलरी' का मुख्य उद्देश था। किन्तु आज-कल के ज़माने में सैनिक बातों से लगाकर प्रत्येक काम-काज के विषयों का निर्णय किसी खास व्यक्ति की मन्शा पर नहीं होता—अर्थात् घटना को एक मनुष्य जैसी घटाना चाहे वैसी नहीं घटा सकना; बल्कि प्रत्येक विषय का निर्णय मनुष्यों के एकत्र निर्णय पर होता है। इसलिए ही युद्ध-विषयक बातों से लोगों का पक्षपात छूट गया और कला-कौशल आदि औद्योगिक प्रवृत्तियाँ समाज में जाग उठीं। इस ज़माने में यह तो नहीं कहा जा सकता कि उदारता आदि गुणों का अभाव है, पर वर्त्तमान समाज

की व्यवस्था पहले की तरह उन गुणों पर ही अवलम्बित नहीं है। इस ज़माने की नैतिक जीवनी की नींव न्याय और बुद्धिसत्ता पर रक्खी गई है। प्रत्येक मनुष्य स्वामी के अधिकारी को सम्मान की दृष्टि से देखता है और स्वावलम्बी बन कर अपना आधार आप ही बनता है। वीरकाल के नैतिक व्यवहार पर नियमानुसार कोई क़ानून न था, इसलिए सभी अपकृत्य निश्चिन्तता से किये जाते थे। लोग बैठ कर आपस में सदाचार-सम्पन्न व्यक्ति की प्रशंसा करते थे, इसलिए सदाचार की ओर प्रेरणा करने वाली वृत्ति लोगों से प्रशंसा कराने की इच्छा थी—बड़ाई करवाने के लिए लोग इस ओर ध्यान देते थे। पर यह असर बहुत थोड़ों पर होता था। क्योंकि नीति की मजबूती शासन के द्वारा होती है—अर्थात् शासन के डर से ही लोग नीतिभ्रष्ट होने से बचा करते हैं। केवल इस बात के मान लेने से ही कि नीति पर चलना अच्छा है, इससे लोगों में सम्मान होता है, लोग इज़्ज़त की नज़र से देखते हैं—यह मान लेने ही से समाज की व्यवस्था रक्षित नहीं रहती। क्योंकि केवल ऐसी समझ के ही कारण नीति के मार्ग पर चलने वाले व्यक्तियों की संख्या बहुत ही कम है, बाक़ी और मनुष्यों को यह समझ अनीति के मार्ग से नहीं हटा सकती, और बहुतों के मनों पर तो ऐसी समझ का बिन्दु-विसर्ग भी असर नहीं होता। इस समय सुधार के प्रताप से मनुष्य-समाज को जो संयुक्त सामर्थ्य प्राप्त हुई है, इस के कारण

लोगों के सब अपकृत्य उसके अधिकार में आगये। क़ानून का ज़ोर समाज के अनाथों और निर्बलों की रक्षा कर सकता है। जो अत्यधिक बलवान् हैं वे मनचाहा अत्याचार नहीं कर सकते। आज-कल निर्बलों की यह दशा नहीं हो जाती कि उन्हें बलवान् जिलावे तो वे जीवें और मारना चाहे तो मरें। इस समय भी वीरकाल की उदार कल्पना की ख़ूबियाँ हैं, और उस के सौन्दर्य्य में पहले से ज़रा भी कमी नहीं हुई है। बल्कि इस समय जो सुधार हुआ है उस में निर्बलों के अधिकारों की विशेष रक्षा की गई है और मनुष्यों की स्वस्थता तथा शान्ति इस समय ज़ियादा मज़बूत है। यदि इस सुधार में कोई कलङ्क है तो वह पराधीनता का विवाह-बन्धन ही है।

१०—पुरुषों के नैतिक व्यवहार पर स्त्रियों की इच्छाओं का जो प्रभाव पड़ता है वह इस ज़माने में कम नहीं हुआ है; किन्तु इसका स्वरूप पहले के समान सच्चा और निश्चित नहीं रहा, क्योंकि यह सत्ता भी लोकमत में मिल गई है। पुरुषों के मनों में जो स्त्रियों के निकट अच्छे दीखने की इच्छा होती है, तथा उनका अधिक समय स्त्रियों के सहवास में बीतता है—इन्हीं दो कारणों के प्रताप से वीरकाल की नैतिक कल्पना का जो भाग अब तक बचा है, उसे क़ायम रखने में, उसकी परम्परा प्रचलित रखने में तथा पराक्रमशालित्व और औदार्य्य आदि उच्च गुण पोषण करने में स्त्रियों के मनोभाव आज भी अधिक भाग लेते हैं। इन बातों में स्त्रियों का नैतिक

झुकाव पुरुषों से कहीं अधिक बढ़ा-चढ़ा है, और न्याय-परायणता का गुण पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में कम है। मनुष्य के आन्तरिक जीवन को देखेंगे तो मालूम होगा कि स्त्रियों का सहवास पुरुषों के व्यवहार पर जो असर करता है, वह सर्वथा सौम्य गुणों का भरण-पोषण करता है और दृढ़ता, स्थिरता, धृष्टता आदि गुणों को निर्बल बनाता है। सांसारिक व्यवहार में नीति के कसौटी-स्वरूप जो अनेक प्रसङ्ग उपस्थित होते हैं, उन प्रसङ्गों पर उदाहरणार्थ स्वार्थ और सद्गुण जब अपनी-अपनी ओर मनुष्य को खींचते हैं तब पुरुषों के व्यवहार पर स्त्रियों की इच्छाओं का जो प्रभाव पड़ता है वह विविध प्रकार का होता है। जिस सद्गुण के विषय में पुरुष की परीक्षा होने वाली होती है, वह यदि स्त्री के मन में धार्मिक और नैतिक शिक्षा के द्वारा पूरा बैठा दिया गया है—तभी उस के द्वारा नीति का समर्थन हो सकता है। उस दशा में स्त्री के उत्साह दिलाने से वे पुरुष ऐसा आत्म-निग्रह प्रकट करते हैं कि वह प्रोत्साहन न होता तो उन से उस विषय की आशा रखनी ही व्यर्थ होती। किन्तु इस समय स्त्रियों को जो शिक्षा दी जा रही है वह इतनी भद्दी और एक-मार्गावलम्बिनी है कि नैतिक तत्त्व का प्रकाश उनके हृदय तक बहुत मुश्किल से पहुँचता है, इसके अलावा उस में विशेष करके निषेधात्मक तत्त्व ही होता है। उदाहरण के तौर पर फलाने-फलाने काम नहीं करने चाहिएँ, यही नैतिक शिक्षण

होता है और इसलिए उनके आचार-विचारों को किसी ख़ास ओर झुकाने में वह शिक्षा कुछ भी कामयाब नहीं होती। निरुपाय होकर मुझे साफ़ कहना पड़ता है कि जीवन में निस्स्वार्थ बर्ताव रखने की शिक्षा उन्हें नहीं दी जाती अर्थात् उन कामों और व्यवसायों में शारीरिक और मानसिक शक्ति लगाने की शिक्षा नहीं दी जाती जिन में प्रत्यक्ष रीति से कुटुम्ब का लाभ होना सम्भव न हो—स्त्रियों को इस दूषित शिक्षा के विरुद्ध बहुत कम उदाहरण देखे जाते हैं। इसका परिणाम सम्पूर्ण मनुष्य-जाति के लिये हानिकारक होता है। ऐसी दूषित शिक्षा द्वारा शिक्षित स्त्रियों के सहवास से सार्वजनिक गुणों के विकाश में रुकावट खड़ी होती है।

११—जब से स्त्रियों का क्षेत्र विस्तृत होने लगा है और लगातार स्त्रियाँ सार्वजनिक कामों में भाग लेने लगी हैं तभी से समग्र प्रजा के लिए जो नीति का झुकाव है उसमें उनका भी हाथ दीखने लगा है। आज-कल के योरप के लोगों के जो दो मुख्य जीवन-व्यापार हैं, उन में स्त्रियों का प्रभाव साफ़ मालूम होता है। उन दो में से एक तो युद्ध-पराङ्मुखता अर्थात लोगों को युद्ध से अश्रद्धा और दूसरा परोपकार या परमार्थ पर प्रेम। इन दोनों प्रवृत्तियों का उत्तम न होना कोई नहीं कह सकता, तथा इन प्रवृत्तियों को स्त्रियों की ओर से विशेष उत्तेजना मिलती है, किन्तु स्त्रियाँ इस प्रवृत्ति को बहुत बार ऐसी दिशा में ले जाती हैं कि एक

और इन प्रवृत्तियों से मनुष्य-समाज को जितना लाभ होता है, दूसरी ओर उतनी ही हानि होती है। परोपकार के कामों में स्त्रियों की प्रवृत्तियाँ दो प्रकार की होती हैं --एक तो धर्म का प्रसार करना, दूसरा दानधर्म करना। किन्तु स्वदेश में धर्म का प्रसार करना तो धार्मिक मत-भेदों और वैरभाव की जड को जमाना है ; और परदेशों में धर्म-प्रसार करने की कोशिश करने का मतलब अन्धे की तरह जो कुछ मिल जाय उसे पकड बैठना है—और परिणाम में हमारे धर्म के मानने वालों की इतनी तादाद है या और ऐसे ही उपाय निकाले जाते हैं। पर उन धर्म फैलाने वालों को इसका होश ही नहीं होता कि बहुत बार इसका नतीजा बहुत ही ख़राब होता है,—धर्म फैलाने वालों का मुख्य उद्देश तो सिद्ध होता नहीं, पर दूसरी ओर से मनुष्य समाज पर काहिली का असर होता है। इस ही प्रकार यदि दान के विषय में सोचें तो वहाँ भी यही नतीजा पेश आता है, यानी दान देने और लेने वाले के सम्बन्ध से जो नतीजा निकलता है वह एकदम मनुष्य-समाज की हानि का कारण बनता है। इस प्रकार होने का कारण यह है कि स्त्रियों की शिक्षा सदोष है, निर्दोष नहीं, अर्थात् स्त्रियों का हृदय शिक्षित किया जाता है मस्तिष्क नहीं। दूसरे उनकी समझ का दायरा बहुत ही छोटा बनाया जाता है, वे हर एक काम में यही सोचती हैं कि इसका असर घर के नेता के मन पर कैसा होगा, किन्तु उन्हें इस बात का ज़रा

भी ख़याल नहीं होता कि इस काम का असर सम्पूर्ण मनुष्य-जाति पर कैसा होगा। इसका नतीजा यह होता है कि परोपकार या दानधर्म की जो आदत उन्हें पसन्द आ जाती है, उस पर वे कभी यह विचार नहीं करतीं कि इससे नुक़सान होना भी मुमकिन है या नहीं—और यदि उन्हीं के परोपकार से कभी सामने नुक़सान भी नज़र पड़ जाय तो उनकी समझ में यह बात नहीं आती कि यह नुक़सान ख़ुद उन्हीं के सबब से हुआ है। आज-कल जितने परोपकार किये जाते हैं वे सब बिना सोचे-विचारे और सिर्फ़ छोटी सी प्रेरणा से होते हैं, और इनकी तादाद बढ़ती जा रही है। आज-कल संसार का यह सर्वमान्य सिद्धान्त हो गया है कि हर एक आदमी को अपने जीवन-निर्वाह के लिए मिहनत करनी ही चाहिए—दूसरे के सिर अपनी ज़िन्दगी डालने का उसे ज़रा भी हक़ नहीं है; इस ही प्रकार हर एक आदमी को अपने किये का फल भोगना ही चाहिए—यह सृष्टि का सर्वमान्य नियम है। इसलिए जिस परोपकार के परिणाम में मनुष्य अपने कर्मों का फल भोगने के कर्त्तव्य से मुक्त हो, और निज के जीवन-निर्वाह का कर्त्तव्य उससे उतर कर समाज के सिर पड़े—ऐसा परोपकार किसी प्रकार पसन्द नहीं किया जा सकता। क्योंकि इसके कारण स्वावलम्बन, आत्मनिग्रह, और स्वमान आदि समाज को उन्नत करने वाले आवश्यक गुणों से लोगों के भाव शिथिल होते हैं, और बहुत बार तो ये गुण

नष्टप्राय हो जाते हैं। यदि लोगों की परोपकार-वृत्ति तथा साधन-सम्पत्ति के इस अनुचित उपयोग का असली कारण खोजेंगे—जिसके द्वारा मनुष्य-समाज का कल्याण होने के बदले हानि ही अधिक सम्भव है, तो मालूम होगा कि इस में स्त्रियो का ही हाथ सब से आगे है—इस में स्त्रियो का ही धन सब से अधिक ख़र्च होता हैं। यह सब कुछ होने पर भी यदि कहीं धर्म या दान की व्यवस्था स्त्रियों के हाथ में होती है—तो वहाँ ऐसी भूलें कम देखी जाती हैं। जब स्त्रियाँ इस व्यवस्था की अधिकारिणी होती है तब अपात्र को दान देने से, तथा बिना समझ-बूझ के धर्म करने से समाज को कितनी हानि होती है, इसे वे पुरुषों से अधिक स्पष्ट समझ लेती हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष घटनाओं को पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियाँ शीघ्र और स्पष्ट समझ लेती हैं, तथा जिन मनुष्यों से उनका सीधा सम्बन्ध होता है उनके मनों को भी वे बहुत जल्द परख लेती है। किन्तु यह घटना अधिकाश ऐसी होती है कि धार्मिक बातों से स्त्रियों का सम्बन्ध तो केवल धन देने मात्र का ही होता है, और उन्हें यह देखने का अवसर ही नहीं मिलता कि उनके दिये हुए धन का उपयोग किस प्रकार होता है; इसलिए आगे से ही उस विषय में वे अनुमान किस प्रकार लगा सकती हैं? ऐसे परोपकार और दया का परिणाम बहुत ही ख़राब होगा इसे वे समझ ही कैसे सकती हैं? इस समय स्त्रियों की जो दशा है, इसी में पैदा होने वाली, और इसी स्थिति से सन्तुष्ट

रहने वाली स्त्री स्वावलम्बन की क़ीमत कैसे समझ सकती है? क्योंकि सब से पहले तो स्त्रियों को किसी प्रकार की आज़ादी ही नहीं होती, तथा स्वावलम्बी बनने का रास्ता उनके लिए खुला होता ही नहीं, फिर उनकी समझ ऐसी बना डाली जाती है कि स्वामी जो कुछ दे वही मात्र तुम्हारा है— तथा इसी स्थिति में सन्तोष मान कर वे अपने दिन टेर करती हैं। इसलिए जो बातें ख़ुद उन्हें अच्छी मालूम होती हैं, वे ग़रीब लोगों के लिए हानिकारक होती होंगी, इसका ख़याल ही कहाँ से आसकता है? उनकी समझ इस प्रकार की बन जाती है कि अपने स्वामी या कुटुम्बियों से जो चीज़ उन्हें मिलती है वह अच्छी ही होती है। किन्तु स्त्रियाँ इस बात को बिल्कुल ही भूल जाती हैं कि हम पराधीन है और ग़रीब लोग स्वाधीन है। और फिर यह तो एक सीधी सी बात है कि सब चीज़ें यदि ग़रीबों को बिना मिहनत के मिलने लगें तो फिर उन्हें मिहनत करने की ज़रूरत ही क्या है? इस के साथ ही यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि प्रत्येक मनुष्य के उदर-निर्वाह का भार दूसरा नहीं ले सकता, इसलिए अपने निर्व्वाह का ख़याल ख़ुद ही को होना चाहिए। किन्तु जब बिना सोचे-समझे वे ही लोग दान-धर्म्म से आर्त्त मनुष्यों के रखवाले हों तो उन्हें अपने जैसों का ख़याल रखना योग्य ही है। इन कारणों से सशक्त-शरीर-व्यक्ति भी अपने हम-ख़यालों से अपना पालन-पोषण करवाते

पुरुष का विवाह कम बुद्धि वाली या मूर्खा स्त्री के साथ होता है उसके साथ बुद्धि-विकाशके सम्बन्ध में गले से बोझल पत्थर लटका देने के समान है; क्योंकि उस दशा में समाज के द्वारा निश्चित किये विचारों पर उसे चलना ही पडता है। उस में जो कुछ उच्च बनने की महत्त्वाकाङ्क्षा होती है उसे उसकी स्त्री दबा रखती है। ऐसे बन्धनों से जकड़ा हुआ पुरुष उदार विचारों और सद्गुणों का अनुभव नहीं कर सकता। उत्तम विचारों के अनुसार अपना व्यवहार रखना, और उच्च श्रेणी के गुणों को प्राप्त करना, उसके लिए अशक्य हो जाता है। यदि उसके विचार मामूली आदमियों के विचारों से ऊँचे हों—अर्थात् जिस सत्य का प्रकाश साधारण मनुष्यों के अन्तःकरण पर नहीं होता यदि उस ही सत्य के दर्शन उसने कर लिये हों, या जिस सत्य को बहुधा लोग केवल बातों में ही मान कर छोड़ देते है, उसके समान अपना व्यवहार करके दिखाना चाहता हो; अर्थात् यदि वह सच्चे हार्दिक विचारों के अनुसार ही अपना प्रत्यक्ष व्यवहार भी बनाना चाहता हो—तो वह अपने विचारों के अनुसार व्यवहार नहीं कर सकता,—विवाह-बन्धन के असङ्गत होने के कारण उसे अपने ऊँचे से ऊँचे विचार मन के मन ही में दाब रखने पडते हैं। सौभाग्य से यदि उस के जैसे विचारों वाली ही स्त्री उसे मिलती है तभी वह अपने विचारों के अनुसार अपना जीवन बना सकता है—अन्यथा वह कुछ भी नहीं कर सकता।

१४—कारण यह है कि प्रचलित लोकमत के ख़िलाफ़ चलने वालों को बहुत कुछ अपनी निजू हानि उठानी पड़ती है, या तो कुछ अंशों में उन्हें अपना सामाजिक सम्मान खोना पड़ता है, या आर्थिक हानि उठानी पड़ती है, और बहुत बार तो उन्हें अपने जीवन-निर्व्वाह का साधन भी खो देना पड़ता है। अपने उत्कृष्ट विचारों के अनुसार प्रत्यक्ष जीवन बनाने की इच्छा रखने वाले पुरुष ऐसे नुक़सानों को प्रसन्नता से सह लेते हैं; किन्तु अपने कुटुम्ब वालों पर ऐसी हानियों का विचार करके वे ठिठक जाते है। कुटुम्ब में पुरुष के उच्च विचारों को ठिठकाने वाले व्यक्ति दो ही होते हैं, एक तो स्त्री और दूसरी पुत्री; क्योंकि पुत्र के विषय में पुरुष का यही ख़याल होता है कि इस के विचार तो मेरे समान है हीं, और एक भलाई के काम में मैं जितना आगे बढ़ने और हानि उठाने के लिए तैयार हूँ उतना ही आगे बढ़ने और हानि उठाने में यह खुशी से भाग लेगा; किन्तु स्त्री और बेटी की तो बात ही न्यारी है। बेटी को अच्छा वर और अच्छा घर मिलना लोकमत के अनुसार चलने ही से नसीब हो सकता है। स्त्री को यह ख़बर ही नहीं होती कि ऐसा स्वार्थत्याग किस लिए किया जाता है; और यदि वह स्वार्थत्याग को थोड़ा बहुत समझती भी है तो, उसका कारण पति पर उसका विश्वास और उसके लाभ की आशा का ही कुछ अंश हो सकता है। पति को स्वार्थत्याग के साथ जिस उल्लास,

आत्मसंयम और सन्तोष का आनन्द प्राप्त होता है उसके हज़ारवें हिस्से का भी अनुभव उस बिचारी को नहीं हो सकता, बल्कि यदि पति अपने सुखों की बलि चढ़ाता है तो अनजान ही में इस विचारी के सर्व्वस्व का समावेश उस में हो जाता है। इसलिए कोई मनुष्य चाहे जितना निस्स्वार्थी और अपने सुखों को कुछ भी न समझने वाला उदार हो किन्तु अपनी स्त्री को इस स्थिति में लाने से पहले वह हिचक हो जाता है। यदि किसी उदार व्यवहार के काम में लाने पर जीवन के प्रत्यक्ष सुखों को कुछ भी हानि न पहुँचती हो और केवल कुटुम्ब की सामाजिक स्थिति का ही सवाल सामने हो, तब भी उसके हार्दिक विचारों में बड़ी आनाकानी होने लगती है और मन अस्वस्थ होजाता है। जो पुरुष घर-गृहस्थी और बालबच्चों वाला हो उसका पल्ला तो उन्होंने पकड़ रक्खा है। पुरुष लोकमत या रूढ़ि का अनादर कर सकता है, किन्तु संसार में उसके विचारों का सम्मान होना उसके शत्रु कभी नहीं देख सकते—उसके शत्रुओं के लिए यह सब से अधिक महत्त्व का प्रश्न होता है। पुरुष समाज के विचारों की अवहेलना कर सकता है, और उसके समान विचार वाले पुरुष उसकी क़दर भी करते हैं—इस ही से वह अपने मन का समाधान कर लेता है और अपना पूरा बदला समझ लेता है। किन्तु जो स्त्री उसके आश्रय में होती है उसके मन का समाधान करने या उसका योग्य बदला देने का कोई साधन

उसके हाथ नहीं होता। स्त्रियों की सदा से स्वाभाविक प्रवृत्ति ऐसी होती है कि वे समाज में अपनी और अपने कुटुम्ब की प्रतिष्ठा बढ़वाने का बर्ताव सदा रखती हैं; इस बात के कारण पुरुष स्त्रियों को दोषी भी ठहराते हैं और उनके चरित्र में निर्बलता, अस्थिरता, बाल्यावस्था आदि दोष आरोपित करते है; किन्तु यह कहना अनुचित और अन्याय से भरा है। समाज की व्यवस्था ने सम्पन्न-अवस्था वाली स्त्रियों के जीवन को त्यागमय बना डाला है। सामाजिक दबाव के कारण स्त्रियाँ अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों को निरन्तर दबाव में रखती हैं; और इस प्रकार का निःस्वार्थ जीवन बिताने के के बदले में समाज से उन्हें मिलता क्या है, केवल अच्छा नाम या सूखी प्रतिष्ठा !! फिर उसकी इज्जत-आबरू उसके पति की इज्जत-आबरू के साथ जुड़ी होती है, बल्कि दोनों एक रूप ही होते हैं। किन्तु पति जब लोकमत का अनादर करने के लिए तैयार होता है, तब उस बिचारी की जन्मभर की कमाई हुई इज्जत-आबरू का भी अस्त आजाता है—इतना परिश्रम करके सम्पादन की हुई और आत्मबलि देकर रक्षित रक्खी हुई कीर्त्ति किसी ऐसे कारण से जिसे वह समझ भी नहीं सकती, यदि वह उस से छिन जाय और इसके लिए वह मन में संकुचित हो, दुखी हो, तो आश्चर्य की बात ही कौन सी है? अपने विषय में लोगों का अच्छा खयाल बनवाने के लिए वह अपना सर्वस्व अर्पण कर डालती है;

किन्तु उसका पति केवल मन की एक तरङ्ग या दूसरे शब्दों में कहें तो संसार जिन्हें केवल अपने विचार पसन्द करने वाला कहता है, उनको उसी मनकी तरङ्ग में उसकी वह कमाई भी डूब जाती है। सारांश यह है कि—प्रचलित विचारों से आगे बढ़ने वाले को लोग उन्नत कहते हैं; ऐसे विचारों वाला पुरुष लोगों के मन से उतरता जाता है और उसके साथ ही उसकी स्त्री भी अपने विषय का अच्छा खयाल खो बैठती है; इसलिए यदि अपने लिए नहीं तो अपनी स्त्री के लिए ही लोग सुधार के मार्ग से पीछे हट जाते हैं। बहुत से शुद्ध और पवित्र हृदय वाले पुरुष ऐसे अवसरों पर बहुत ही संकुचित हो जाते हैं। क्योंकि उनका बुद्धिबल इतनी उच्चकोटि का तो होता नहीं कि उदार और उदात्त विचार वालों में वे ऊँचा स्थान प्राप्त करलें या प्रतिष्ठा के पात्र समझे जायँ, किन्तु वे अपने विचार अपने मन के सच्चे विश्वास पर बनाते हैं, और वे हृदय से चाहते हैं कि अपना आचरण अपने विचारों के अनुसार ही हो, बल्कि जो विचार उनके होते है उन्हें प्रकट करके उनके मण्डन और प्रसार के लिए जो कुछ भी करना पड़े करने को तैयार रहते हैं। फिर चाहे उन्हें अपना सम्पूर्ण समय ही लगाना पड़े, सब शक्ति और सम्पत्ति लगा देनी पड़े या अपने सब स्वार्थों की बलि देनी पड़े। किन्तु इस श्रेणी वाले मनुष्यों की भी स्थिति और ख़ास करके सामाजिक दरजे में प्रतिष्ठित लोगों के भीतर जो

प्रविष्ट हो सकता है उसकी स्थिति तो ख़ास करके गड़बड़ से भरी होती है। समाज के द्वारा प्रतिष्ठित लोगों के मण्डल में प्रविष्ट होने वाले व्यक्ति के प्रवेश का तमाम दारमदार उसके विषय में लोगों की राय पर अवलम्बित होता है; इसलिए उसकी रहन सहन, उसका चाल-चलन और व्यवहार चाहे जितनी सभ्यता से भरा हो और वह चाहे जैसा निर्दोष और निर्मल हो किन्तु सुधार के विषय में उसके विचार आगे बढ़े रहने के कारण लोग उसे पसन्द नहीं करते और इसलिए वह लोगों के मान्य-मण्डल में प्रविष्ट नहीं हो सकता। अधिकांश स्त्रियों के ऐसे ही विचार होते हैं, प्रति दस स्त्रियों में नौ के विचार ऐसे ही ग़लत होते हैं,—कि हम जो भले घरानों और प्रतिष्ठित मण्डलों में प्रविष्ट नहीं हो सकतीं उसका कारण यही है कि दुर्भाग्य से हमारे स्वामी धार्मिक विचारों से विरुद्ध हैं, या उनके राजनैतिक विचार उन्नत-वर्ग से मिलते-जुलते हैं—नहीं तो हमारे समान योग्यता वाले व्यक्तियों के उन मण्डलों में प्रविष्ट हो जाने पर भी हम बाक़ी क्यों रहतीं? अधिकांश स्त्रियों के ऐसे ही ख़याल होते हैं कि इस बात के ही कारण मेरे पुत्र को अच्छी नौकरी या अच्छा ओहदा नहीं मिलता, या मेरी पुत्री को अच्छा घराना और अच्छा वर नहीं मिलता। घराने में हम दूसरों के समान होने पर भी तथा अन्य लोगों के समान आदर-सत्कार के पात्र होने पर भी, हमें जो आदर-सम्मान नहीं मिलता उसका कारण यही है। यह

घटना प्रत्येक कुटुम्ब में घटा करती है, इस प्रकारका असन्तोष प्रत्येक गृहिणी के मन में होता है। बहुत सी स्त्रियां अपने इस भाव को शब्दों में प्रकट करती हैं और बहुत सी मन ही मन इसे दबाये रहती है। इस प्रकार की आन्तरिक स्थिति होने के कारण आज-कल लोगों का शिष्टाचार निम्न श्रेणी का है—किन्तु इस में आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

१५—अनेक कार्य्यों में स्त्रियों को अनधिकारी मानने से स्त्री-पुरुषों के शिक्षण और व्यवहार में जो भेद हो जाते हैं उनकी हानि का विचार एक और दूसरे केन्द्र-विन्दु से भी किया जा सकता है। विवाह-बन्धन का सब से अधिक महत्त्व का उद्देश, कहा जाता है, उनके विचार और वृत्तियों का ऐक्य होजाना; किन्तु ऊपर बताया हुआ भेद इस वृत्ति से बिल्कुल उलटा होता है। एक दूसरे से सर्व्वथा भिन्न दो व्यक्तियों के सम्बन्ध से ऐक्य की आशा रखना भूल है—भ्रान्ति है। यह हो सकता है कि विषम प्रकृति वाले मनुष्य एक दूसरे का आकर्षण करें, किन्तु ऐक्य-साधन करने वाली तो प्रकृति की साम्यता ही है। इसलिए उन व्यक्तियों की समानता जैसे-जैसे बढ़ती जायगी वैसे ही वैसे वे एक दूसरे का जीवन अधिक सुखमय बनाने के योग्य होते जायँगे। जब तक स्त्री-पुरुषों की भिन्नता स्थिर रहेगी तब तक स्वार्थी पुरुषों के मन में अधिकार अपने हाथ में रखने की ही धुन समाई रहेगी,—क्योंकि जहाँ भिन्नता होती है वहाँ वृत्तियों का ऐक्य कभी सम्भव

नहीं होता; और इसके द्वारा उत्पन्न होने वाली पारस्परिक विरुद्धता को मिटाने के लिए इस अधिकार का अपने हाथ में रखना पुरुषों को अच्छा लगता है कि जो कुछ हम कहें वही क़ायदा है। क्योंकि यदि ऐसा न किया जाय तो प्रत्येक प्रश्न उनकी मन्शा के मुताबिक़ कैसे हो सकता है? फिर तो लड़ाई-झगड़े पर ही नौबत पहुँचे! जो व्यक्ति एक दूसरे से भिन्न हैं उनके हित का ऐक्य होना अशक्य है। अपने-अपने कर्त्तव्यों के योग्य महत्त्व के विषयों में विवाहित स्त्री-पुरुषों में मतभेद होता है, और जहाँ यह घटता है वहाँ सचमुच ऐक्य कैसे सम्भव है? फिर यह बात भी नहीं है कि यह घटना कभी कहीं हो घटती हो—बल्कि घर-घर यही हाल है, और ख़ास करके जिस घर में स्त्री कुछ विशेष गुणवती होती है वहाँ तो रोज़ ही यह बात रहती है। जहाँ-जहाँ रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय प्रचलित है वहाँ विशेष करके यही प्रकार घटता रहता है। साधारण रीति से ऐसे पति-पत्नी में धार्म्मिक मतभेद ही होता है, फिर पत्नी को धर्म्मोपदेशकों से उत्साह मिलता रहता है—क्योंकि संसार में पति के अलावा और किसी को सम्मान देने का अधिकार स्त्रियों को है तो धर्म्मो-पदेशक-वर्ग को ही है। इस प्रकार स्त्रियों के हार्दिक विचारों पर धर्म्मोपदेशकों का जो अधिकार होता है वह प्रोटेस्टेण्ट पन्थ के उपदेशकों और लेखकों को नहीं रुचता—क्योंकि सत्ताधीश वर्ग को यह अच्छा नहीं लग सकता कि, कोई उन

के अधिकार में हिस्सा बँटावे। धर्मोपदेशकों के विरुद्ध इसलिए आवाज़ उठाई जाती है कि उनका स्त्रियों के विचारों पर अधिकार रखना हानिकारक समझा जाता है, बल्कि पति के अधिकार में धर्मोपदेशक सहभागी होते हैं और स्त्रियों को अपने अनुकूल बनाकर स्वामियों के अधिकार के विरुद्ध बलवा करवाते हैं—इसलिए धर्मोपदेशकों की सत्ता का विरोध किया जाता है। इङ्गलैण्ड में जब किसी प्रोटेस्टैण्ट स्त्री से अन्य पन्थ वाला विवाह करता है, तब इस प्रकार का मतभेद होना सम्भव अवश्य होता है; किन्तु दोनों में जन्म-भर विवाद रहने की अपेक्षा युक्तियों से काम लिया जाता है। स्त्रियों की बुद्धि ऐसी जड़ और संकुचित बना डाली जाती है कि प्रचलित रूढ़ि से बाहर का कोई विचार स्त्री अपने मन में कर ही नहीं सकती, और यदि कर भी सकती है तो इतना ही कि पति के जैसे विचार हों वैसे ही अपने भी होने चाहिएँ। अब मान लो कि, स्त्री पुरुष में किसी महत्त्व के विषय में मतभेद नहीं है; किन्तु उनकी रुचि में ही ज़रा भेद है, तो इतनी भिन्नता ही उनके दाम्पत्य-सुख में भेद डालने के लिए काफ़ी है। यदि स्त्री-पुरुष में कोई प्रकृतिसिद्ध भेद हो तो उस भेद में शिक्षा के द्वारा विशेष वृद्धि करने से सम्भवतः पुरुष की विषय-वासना विशेष तृप्त हो सकती होगी, किन्तु उससे वास्तविक दाम्पत्य-सुख में तो लेशमात्र भी वृद्धि नहीं होती। विवाहित स्त्री-पुरुष यदि सुशिक्षित, सभ्य और सुशील

होते हैं तभी वे एक दूसरे की रुचि-भिन्नता को भी निभा ले जाते हैं यानी एक दूसरे की रुचि का बाधक नहीं होता। किन्तु विवाह करते समय क्या लोग परस्पर सहिष्णुता की आशा रखते हैं? दोनों की रुचि भिन्न होने से इच्छाओं में भी भिन्नता होती है, और परस्पर स्नेह और कर्त्तव्य का अङ्कुश न रक्खें तो हर एक घरेलू प्रश्न के निराकरण में लड़ाई-झगड़ा ही उपस्थित हो—यह स्पष्ट है। इस प्रकार के जोड़े में प्रत्येक व्यक्ति अपने सहवास-समागम के लिए जैसे मनुष्यों को अपनी रुचि के अनुसार चुनेंगी उस में भी भिन्नता होगी। एक को जैसा बोलने-चालने वाला व्यक्ति पसन्द होगा दूसरा उसकी उपेक्षा करेगा; फिर भी ऐसे व्यक्ति मिल जायँगे जो दोनों के स्नेह के पात्र हों। क्योंकि पन्द्रहवें लुई के ज़माने में जैसे स्त्री-पुरुष घर के न्यारे-न्यारे भागों में रहते थे वैसे अब नहीं रहते, और उनसे मिलने वालों के नाम जैसे न्यारे-न्यारे थे वैसे भी अब नहीं हैं। किन्तु अपने बच्चों को कैसी शिक्षा देनी, और उन के विचार किस ओर झुकाने इस विषय में स्त्री-पुरुष का मतभेद रहे होगा। प्रत्येक के मन में यह बात होती ही है कि बच्चों के विचार और उनकी प्रवृत्ति अपने ही समान बने—स्वाभाविक है। इसका परिणाम यह होता है कि या तो दोनों की समझ के बीच का मार्ग पकड़ा जाय जिससे दोनों की इच्छाएँ आधी तृप्त हों और आधी अतृप्त, और या स्त्री की

पति की इच्छा प्रधान रखनी पड़े जिससे बहुधा स्त्रियों को अत्यधिक मानसिक कष्ट होता है। और इच्छापूर्वक या अनजान में ही वह अपने अधिकार का उपयोग पति के प्रयास को हटाने में करती है।

१६—स्त्री-पुरुष की मनोवृत्ति और रुचि में जो भेद दिखाई देता है उसका कारण शिक्षा का भेद ही है तथा इस प्रकार के भेद का बिल्कुल न होना—ये कल्पना केवल मूर्खता-भरी है। किन्तु इस बात में ज़रा भी अतिशयोक्ति नहीं है कि शिक्षा-भेद ने ही इनकी वृद्धि हुई है और ये सर्वथा अपरित्याज्य होगये है। स्त्रियों की वर्तमान शिक्षण-पद्धति जब तक इसी प्रकार चली जायगी तब तक दैनिक व्यवहारो में जो स्त्री-पुरुष की रुचि-भिन्नता दिखाई देती है वह नष्ट नहीं हो सकती। सांसारिक ऐसे कार्यों में जिनमें दोनों की हाँ या ना की ज़रूरत हो, तो दोनों की सच्ची मित्रता का यही लक्षण है कि वे एकमत हों; किन्तु यदि स्त्री-पुरुष ऐसे ऐक्य का प्रयास करेंगे तो वे निराश ही होंगे। इस प्रकार का ऐक्य यदि किसी प्रकार सम्भव है तो वह केवल एक ही प्रकार से हो सकता है, अर्थात् पुरुष अपनी जन्म की साथिन् ऐसी स्त्री को बनावे जो ऐसी जड़ हो कि जिसे अपनी सुध-बुध ही न हो; किन्तु ऐसा होना भी असम्भव ही है। यह निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि कोई स्त्री ऐसी होगी जो अपने आपको सर्वथा ही भूल

जायगी। और मान लो कि ऐसा हो भी, तब भी क्या विवाह की उदार कल्पना ऐसी ही होती है? ऐसी स्त्री से पुरुष को लाभ ही क्या हो सकता है? वह उसे एक उच्च श्रेणी वाली दासी से अधिक उपयोगी नहीं हो सकती। अब इससे दूसरे पक्ष की बात सोचो। विवाहित स्त्री-पुरुष में यदि कुछ उच्च गुण हों, दोनों पारस्परिक प्रेम से बँधे हों, दोनों के आचार-विचार और वृत्तियों में विशेष अन्तर न हो, तो दोनों का झुकाव एक ही ओर समान रूप से होगा, प्रत्येक को एक दूसरे की दया का सहारा मिलता रहेगा, और इसके कारण दोनों की अन्तःस्थ शक्तियों का विकाश होते हुए,—पहले जिस ओर केवल एक ही व्यक्ति का झुकाव था अब दोनों का समान, रूप से होगा। तथा कुछ तो इस बात से कि दोनों की वृत्तियों में कुछ-कुछ लौट-फेर होगा और कुछ एक की वृत्तियाँ दूसरे को पसन्द आवेंगी, इसलिए दोनों के विचार विशेष उदार होंगे—और इस प्रकार दोनों के स्वभाव और वृत्तियाँ धीरे-धीरे एक रूप हो जायँगी। सांसारिक व्यवहार में एक दूसरे के निकट रहने वाले दो मित्रों के जीवन में ऐसी घटना घटते हुए हम बहुत बार देखते हैं, इस समय आदर्श स्त्री-पुरुष पैदा होने की सम्भावना न्यारी-न्यारी शिक्षा के द्वारा निर्मूल कर डाली जाती है। यदि यह सब न किया गया होता तो विवाह के विषय में भी यह बात साधारण बातों के समान प्रचलित हो जाती, इस में ज़रा

भी शक नहीं। वर्तमान शिक्षा-पद्धति में जो लौट-फर किया गया है—अर्थात् स्त्री-पुरुषों की शिक्षा-पद्धति भिन्न-भिन्न प्रकार की रक्खी गई है; यदि इसे बदल कर दोनों को एक ही तरह की शिक्षा दी जाय तो व्यक्ति की रुचि में जो स्वाभाविक भेद होंगे वे तो रहेहींगे—व्यक्ति में जो स्वाभाविक रुचि-वैचित्र्य होगा वह तो बना ही रहेगा—किन्तु सांसारिक मुख्य-मुख्य कर्त्तव्यों के विषय में स्त्री-पुरुष का एकमत होना अधिक सम्भव है—यह बात निर्विवाद है। सांसारिक बड़े-बड़े कर्त्तव्यों को पूरा करने में यदि दोनों एकमत हों, और उसके प्रयास में दोनों एक दूसरे की सहायता करते रहें, प्रोत्साहन देते रहें—तो छोटी-मोटी बातों में यदि उनकी रुचि भिन्न भी हो तो यह बात स्वयं उन्हें विशेष महत्त्व की न मालूम होगी। इस प्रकार का सम्बन्ध ही सच्चे और चिरकालीन प्रेम की दीवार है। इस प्रेम के प्रभाव से एक दूसरे से सुख प्राप्त करने की अपेक्षा एक दूसरे को सुख पहुँचाने का प्रयास करते हैं, यह बात कितने महत्त्व की है।

१७—अब तक हमने इस बात का विचार किया है कि पति-पत्नी के स्वभाव और रुचि न मिलने से सच्चे गृहस्थी के सुख में कितनी कमी रहती है। किन्तु पुरुष की अपेक्षा यदि स्त्री बुद्धि में कम होती है तो इसका परिणाम और भी खराब होता है। जिस दशा में दोनों की असमानता उत्तम गुणों की अधिकता से होती है अर्थात् दोनों में न्यारे-न्यारे प्रकार

के अच्छे गुण होते हैं तब हानि होने की कम सम्भावना होती है; क्योंकि ऐसे प्रसङ्ग पर एक दूसरे को सुधार कर मार्ग पर ला सकते हैं। एक दूसरे में जो भले गुण होते हैं उन्हें सम्पादन कर लेने की दोनों की इच्छा होती है और इसके लिए दोनों प्रयत्नशील रहते हैं। यह दशा होजाने पर, एक दूसरे का लाभ विरुद्ध होने की अपेक्षा उलटा एक हो जाता है; और इससे एक दूसरे को अधिक क़ीमती समझते हैं। किन्तु जब एक व्यक्ति मानसिक शक्ति और सुधार में दूसरे से कम होता है, और वह कोशिश करके सब बातों में उसके बराबर नहीं पहुँचता—तो ऐसे दो व्यक्तियों में जो ऊँचा होगा उसके गले का बोझ दूसरा व्यक्ति बन जायगा। मूर्ख और निर्बुद्धि स्त्री के सहवास में रहने वाले पुरुष की बुद्धि सुधरने के बदले दिन प्रति दिन घटती जायगी; और विशेष करके जो दम्पति सुखी निकले हैं उनके विषय में यह बात और भी अधिक घटती है। ऊँची प्रतिभा वाला पुरुष यदि कम अक़्ल वाले मूर्खों में बैठना-उठना पसन्द करता हो तो उनकी सङ्गति का ही उसकी बुद्धि पर कुछ न कुछ फल हुए बिना नहीं रहता। जिस सङ्गति में मनुष्य को सुधारने का गुण नहीं होता वह उसे बिगाड़ती ज़रूर है—और उसका वह सहवास जितना ही अधिक दृढ़ होता है उतना ही उसके बिगाड़ने का अवगुण भी अधिक शक्तिशाली होता है। यदि एक अच्छे आदमी को अपने बराबर वालों पर अधिकार

विशेष महत्त्व की नहीं मालूम होती, उसके विषय में पति भी उदासीनता दिखाने लगता है, अर्थात् जिस बात में स्त्री का उत्साह नहीं होता पति भी उससे विमुख होजाता है। विवाह करने से पहले जितने ऊँचे-ऊँचे ख़याल उसके दिमाग में घूमा करते है वे सब बन्द हो जाते है। उन ख़यालों के योग्य जिन मित्रों से उसका सम्बन्ध होता है, वह भी घटने लगता है—और अन्त में उनका सहवास उसे बोझ मालूम होने लगता है। क्योंकि फिर उनके साथ बैठने से उसे अपनी अवनति का ख़याल होता है और शर्म आती है; तथा उसके मन और हृदय की उदार प्रवृत्तियां मन्द पड़ जाती है। उस में जो यह फेरफार होता है उसका कारण नवीन कौटुम्बिक सहवास से स्वार्थ-साधक वृत्तियों की ओर झुक जाना होता है—पर्थात् वह कौटुम्बिक वृत्तियों के अनुरूप बन जाता है और कुछ वर्षों में उस में और साधारण मनुष्यों में कुछ भी अन्तर नहीं रहता। साधारण बातों में उसका दिमाग़ ग़र्क हो जाता है और सुख भोगते हुए द्रव्योपार्ज्जन को वह अपनी प्रवृत्ति का मुख्य उद्देश बनाता है, इस के अलावा उसे और कोई ख़याल नहीं रहता—इसके सिवा फिर और कल्पना उसके दिमाग तक नहीं पहुँचती।

१८—जिनके मन उत्तम शिक्षा के द्वारा संस्कृत किये गये हों, जिन की शक्तियां पूर्ण रूप से विकसित हो गई हो, जिन के विचार और भाव एक ही प्रकार के हों, जिन में उत्कृष्ट

समानता निवास करती हो—अर्थात् मानसिक और नैतिक सम्पत्ति की समानता होते हुए, एक-एक विशेष गुण हो, जिससे दोनों को दोनों पर मोहित होने का अवसर मिले, तथा उन्नति के मार्ग में एक दूसरे के सहायक हों—ऐसे स्त्री-पुरुषों का विवाह सम्बन्ध हो तो उसका परिणाम कितना लाभदायक और हितकारी हो और वह दृष्टान्त कितना उज्ज्वल हो, इसके वर्णन करने में मैं अपना समय नहीं लगाता। क्योंकि जो मनुष्य इसकी कल्पना कर सकते हैं उनके लिए वर्णन की कोई आवश्यकता नहीं, और जो कल्पना नहीं कर सकते उनके लिए मेरा वर्णन आकाश में क़िला बनाने के समान होगा। किन्तु यह मैं विश्वास और निश्चय-पूर्वक कहूँगा कि विवाह की सब से अधिक उदार कल्पना यदि कोई हो सकती है तो वह यही है; और जो आचार-विचार, रीति-रिवाज इस से भिन्न कल्पना की ओर ले जाते हैं, या इस कल्पना को ही दूसरी ओर झुकाने की कोशिश करते हैं, तो बाहर से उनका रूप चाहे जैसा लुभावना हो—किन्तु वह मनुष्य-जाति की प्राचीन जङ्गली अवस्था के चिह्न के समान ही हैं। जब सामाजिक सम्बन्धों में सब से अधिक महत्त्व वाले और दीर्घ-परिणामी विवाह-सम्बन्ध की दीवार न्याय की नींव पर रक्खी जायगी, समानता का राज्य पूर्ण रूप से प्रचलित होगा, प्रत्येक मनुष्य ऐसे मनुष्य-प्राणी को अपना आजीवन संगी बनावेगा जो बुद्धि-विकाश के विषय में सब प्रकार से समानता कर

सकेगा—तभी मनुष्य-जाति का नैतिक सुधार वास्तविक रूप से प्रारम्भ होगा।

१८—केवल जाति-भेद ही के कारण जो मनुष्य-प्राणी बहुत से अधिकारों के अयोग्य समझे जाते थे—इस प्रथा के बन्द होने से अब तक जिन-जिन फ़ायदों का निरूपण किया गया है, वे सब मनुष्य-जाति को लक्ष्य करके लिये गये हैं। हम इस बात का निरूपण कर आये हैं कि इस अनुचित प्रयास के बन्द होने से सब से पहले तो संसार के उपयोग में आने वाले बुद्धिबल तथा कार्य-सामर्थ्य में उन्नति होगी; और दूसरे स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध से जो स्थिति उत्पन्न होगी उस में सुधार होगा। इसका जो विचार किया गया है वह सम्पूर्ण समाज को लक्ष्य में रख कर किया गया है; किन्तु ख़ास व्यक्ति पर इसका क्या असर होगा सो नहीं सोचा गया; किन्तु इस अवसर पर सबसे अधिक लाभ का निरूपण न करना भी उचित नहीं है। मनुष्य-जाति के बिल्कुल आधे भाग के बन्धन से मुक्त होने पर उसके सुख में जैसी वृद्धि होगी, वह अनिर्वचनीय है। दूसरों की इच्छाओं के अधीन होकर पराधीनता में जीवन बिताना और स्वतन्त्र होकर जीवन बिताने में जितना अन्तर है, उतना ही अन्तर स्त्रियों की इस समय की और आगे आने वाली स्थिति में होगा। सब से अधिक अन्न और वस्त्र की आवश्यकताओं के बाद मनुष्य की यदि और कोई अत्यावश्यक चीज़ है तो वह स्वाधीनता ही है।

मनुष्य-जाति पर जब तक क़ानून का बन्ध नहीं होता, तब तक वह अनियन्त्रित स्वाधीनता भोगने की इच्छा रखता है। आगे बढ़ने वाले मनुष्यों को जब अपने कर्त्तव्य का ज्ञान होता है, और ज्ञान की क़ीमत उनकी समझ में आती है, तभी वे अपनी नियामक सत्ता पर नियमों का अङ्कुश रहना आवश्यक समझते हैं; किन्तु इसका परिणाम यह नहीं होता कि स्वतन्त्रता से उनका प्रेम कम हो जाय। लोग कभी इस बात को स्वीकार नहीं करते कि दूसरे की इच्छा ही अपना क़ायदा, या दूसरे की इच्छा ही कर्त्तव्य और विवेक की प्रतिनिधि है। अर्थात् समाज के नियामक तत्त्व कर्त्तव्य और विवेक को किसी ख़ास व्यक्ति की इच्छा पर लोग छोड़ना पसन्द नहीं करते; किन्तु इस के विरुद्ध जो व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के पक्षपाती होते हैं, वे इस विचार पर ज़ियादा ज़ोर डाले रहते है कि, अपनी इच्छा के अनुसार बरतने की स्वाधीनता होनी चाहिए—उन्हीं की विचारशक्ति और विवेक-बुद्धि सबसे अधिक शिक्षित होती है तथा सामाजिक कर्त्तव्य की ओर उनका झुकाव सब से अधिक होता है। उनका विचार इस प्रकार का होता है कि, प्रत्येक मनुष्य की स्वाधीनता पर यदि किसी प्रकार का अङ्कुश आवश्यक हो तो वह इतना ही होना चाहिए कि, अपने कर्त्तव्य के सम्बन्ध में व्यक्ति की जो समझ हो तथा अपने लिए उसे जो क़ायदे और सामाजिक बन्धन योग्य जान पड़ें—उन्हें वह दूसरों के लिए लागू न करे। इसके

अलावा और किसी प्रकार की रुकावट उसकी स्वाधीनता में न होनी चाहिए।

२०—जिसको यह समझने की इच्छा हो कि मानवी सुख के लिए व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की कितनी अधिक आवश्यकता है, उसे सोचना चाहिए कि वह खुद अपनी स्वाधीनता को कितनी क़ीमती समझता है। एक मनुष्य एक विषय में जब खुद अपने लिए विचार करता है तब जिस लक्ष्य पर पहुँचता है, वही मनुष्य उसी विषय में जब दूसरे के लिए विचार करता है तब न्यारे लक्ष्य पर पहुँचता है; और प्रस्तुत विषय के विचार में तो लोगों में इतना अन्तर होता है कि शायद ही और किसी विषय में होता हो। जब किसी दूसरे व्यक्ति की ऐसी शिकायतें सामने आती हैं, कि 'मुझे मेरी इच्छा के अनुसार बरतने की स्वाधीनता नहीं,' या 'काम-काज की व्यवस्था में जितना मेरा अधिकार होना चाहिए था उतना नहीं है,' तब उस से ऐसे सवाल करने लगता है कि, 'तो इससे तुझे क्या दुःख है? इस से तेरा प्रत्यक्ष नुक़सान क्या होता है? और तेरे काम में इससे अव्यवस्था ही क्या होती है?' इन प्रश्नों का उत्तर यदि शिकायत करने वाले की तरफ़ से उसका समाधान करने योग्य नहीं होता तो वह उसकी शिकायत पर ज़रा भी ध्यान नहीं देता, बल्कि विशेषता में उस पर सम्मति देता है कि, 'इसकी शिकायत व्यर्थ और कपोलकल्पित है, इसका झगड़ने का स्वभाव ही है; इसके साथ चाहे जितना

भला व्यवहार किया जाय, पर इसे कभी सन्तोष होने का नहीं।' किन्तु जब वह अपने विषय में इस ही प्रकार का विचार करता है, तब उस की आँखों पर न्यारे ही रंग का चश्मा चढ़ा होता है, तब उस की विचार-पद्धति न्यारे ही ढँग की होती है। उस समय उस से ऊपर वाला मनुष्य चाहे जितनी शुद्धता और पवित्रता से काम करता हो, उसका काम चाहे जितना प्रामाणिक और हितकारी हो, किन्तु उस के मन का समाधान नहीं होता। उसकी शिकायत का सब से बड़ा सबब यही होता है कि उसे कामों के अधिकार से वञ्चित क्यों रक्खा जाता है; और यहाँ तक कि काम-काज में अव्यवस्था का सवाल उठाना भी उसे व्यर्थ मालूम होता है, और इस विषय की जाँच करने से भी वह इन्कार करता है। किन्हीं ख़ास-ख़ास व्यक्तियों के विषय में ही यह बात नहीं घटती, बल्कि समस्त राष्ट्र और प्रजा इस ही नियम के अनुसार चलती है। अपने देश की राज्यव्यवस्था दूसरे देश वाले चाहे जितनी प्रामाणिकता, सचाई और निष्पक्षता से चलाना स्वीकार करें, किन्तु स्वाधीनता के बदले में किसी स्वतन्त्र देश का आदमी क्या इसे मानेगा? चाहे निश्चय रूप से उन्हें यह विश्वास हो गया हो कि विदेशियों के हाथ में राज्य की डोर सौंप देने से राज्य बहुत अच्छा हो जायगा, सुधर जायगा; किन्तु फिर भी यही सोचा जायगा कि अपने हाथ से चलाये हुए राज्य में चाहे जितना खोट हो, फिर भी अपना उद्धार अपनी ही शक्ति

कुटुम्ब के जाल में फँसी होती हैं और जबतक उस जाल को अपने सिर लादे रहती हैं, तब तक उन की शक्तियों के लिए वही क्षेत्र बना रहता है। किन्तु जो स्त्रियां किन्हीं ख़ास विषयों के योग्य हैं, किन्तु उनके हाथ ऐसा कोई अवसर ही नहीं आता कि वे उसे कर सकें, उन्हें क्या करना चाहिए? (वर्त्तमान समय में ऐसी स्त्रियों की संख्या बढ़ती जाती है; अर्थात् बहुत स्त्रियों को अपनी अविवाहित जीवनी बनानी पड़ती है) इस ही प्रकार जो स्त्रियां काल के प्रभाव से निःसन्तान होगई हों, या जिनके पुत्र उदरनिर्व्वाह के लिए विदेश में रहते हों, या बड़े होकर विवाह करके अपना न्यारा काम कर रहे हों—उनका क्या हाल होगा, इसका भी विचार करना चाहिए। हम ऐसे सैकड़ों उदाहरण सुनते और देखते हैं कि व्यवसायी और काम करने वाले तमाम उमर व्यवसाय में निमग्न रह कर दो पैसे अपनी गिरह में करके अपनी बाकी जीवनी आराम से बिताते हैं; किन्तु फिर कोई ऐसा विषय नहीं होता जिस में उनका जी लगा रहे और उनका निरुद्यमी जीवन भार मालूम होता है, वे निरुत्साह और उदासीनता में लीन हो जाते हैं और अन्त में अकाल मृत्यु के ग्रास बनते हैं। बहुत सी कर्त्तव्यपरायणा स्त्रियों की दशा भी ऐसी ही होती है; पर उनका तो किसी को ख़याल ही नहीं होता। उन्हें संसार की कड़ी घाटियों से उत्तीर्ण होना पड़ता है; अर्थात् अपने पति की गृहव्यवस्था वे भलीभांति कर चुकी होती है, बाल-

बच्चों को पाल-पोष कर बड़ा बना चुकी होती हैं, और घर को जहाँ तक सुधारना चाहिए वहाँ तक सुधार चुकी होती हैं। जिस काम के लिए उनका निर्म्माण होता है, वह काम एकाएक बन्द होजाता है—वे बिना काम की, निकम्मी हो जाती हैं। काम करने की ताक़त उन में जैसी की तैसी रहती है, पर उसे करने के लिए फिर उन्हें प्रसङ्ग नहीं मिलता। यदि सौभाग्य से उसकी बेटी या बेटे की बहू अपने नये घर का काम उसे दे तो उसे अपने समय और शक्ति के उपयोग का अवसर मिल सकता है, उसके दिन सुख में बीत सकते हैं, नहीं तो ऐसी स्थिति में पड़ी हुई स्त्रियों को निकम्मी बन कर अपना ग्लानियुक्त जीवन बिताना पड़ता है *। समाज ने जो स्त्रियों का एक ही कर्त्तव्य निश्चित किया है, उसे पूरी योग्यता और निष्ठा से पूरा करने पर भी वृद्धावस्था में उनके जीवन की यह दुर्दशा होना, क्या उनका कम दुर्भाग्य है? ऐसी स्त्रियाँ, तथा जिन्हें विवाहित स्त्री के कर्त्तव्य पूरा करने का ज़रा भी अवसर नहीं मिला वे स्त्रियाँ—ऐसी दशा में योग्य व्यवसाय से दूर पड़ी-पड़ी सड़ा करती हैं और बिना काम की निर्जीव जीवनी बिताती हैं। ऐसी स्त्रियों का मुख्य काम देखेंगे तो धर्म्म और उपकार ही होगा। किन्तु उनका

---

* पाठकों को स्मरण रखना चाहिए कि हमारे देश के समान योरप में अविभक्त कुटुम्ब नहीं होता। वहाँ लड़का और लड़की सयाने होने पर अपने-अपने योग्य पत्नी और पति तलाश कर लेते हैं और फिर उनका घर न्यारा होता है।

समय भी स्त्रियों के लिए जो थोड़े बहुत इज्जत-आबरू के काम रक्खे गये हैं और बहुत सी स्त्रियाँ उन्हीं के द्वारा अपना उदर-निर्वाह करके अविवाहित रहती हैं) इस कारण जिनकी युवावस्था का सम्पूर्ण समय योग्यता प्राप्त करने में बीत गया होगा और जिन्होंने उस उच्च योग्यता का पूर्ण अभ्यास कर लिया होगा; या ऐसे अधिकारों के लिए अधिकांश चालीस या पचास वर्ष की वय वाली अधेड़ विधवाएँ या पत्नियाँ पसन्द की जायँगी; क्योंकि कौटुम्बिक सञ्चालन के कारण उन्हें व्यवहार-दक्षता का पूर्ण ज्ञान हो जायगा—योग्य अनुभव, उत्तम शिक्षा और योग्यता से वे सार्वजनिक कामों को भली भाँति सम्पादन कर सकेंगी। बहुत से देशों के हजारों उदाहरण हमारे सुनने में आये हैं, जिन में राज्य के बड़े-बड़े अधिकारियों को उनकी स्त्रियों ने बड़े-बड़े मार्के के मौक़ों पर सलाह दी है और उसके अनुसार काम करके वे कृतकार्य हो गये हैं। और सामाजिक तथा राजकीय बहुत सी बातों में तो पुरुष भी स्त्रियों का मुक़ाबिला नहीं कर सकते; व्यवहार में स्त्री जितनी निपुण होती है पुरुष उतना नहीं होता। उदाहरण के तौर पर, तमाम घरेलू कामों को तफ़सील रखनी और उनका हिसाब यथास्थान अपने ख़याल में रखना, आदि—स्त्रियाँ बहुत योग्यता से कर सकती हैं।

किन्तु इस समय हम जिस विषय का विचार कर रहे हैं उसका विषय यह नहीं है कि सार्वजनिक कामों में स्त्रियों से

कितनी सहायता ली जाय; बल्कि नीचे के अनुसार है,—कुछ स्त्रियों को तो विवाहित स्थिति प्राप्त करने की अनुकूलता ही नहीं मिलती, और बहुतों को विवाहित स्थिति ही पसन्द नहीं होती, तथा बहुत सी स्त्रियों की यह प्रवृत्ति पीछे से कई अनिवार्य कारणों से नहीं रहती,—इन सब स्त्रियों में से बहुतों को सार्वजनिक काम करने की विशेष उत्कण्ठा होती है, और उन में इतनी योग्यता भी होती है; किन्तु समाज उन्हें इन व्यवसायों के लिए अनधिकारी मानता है; इसलिए अपने मन-लायक काम न पाकर उनके मन सदा उचटे रहते हैं, उनकी जीवनी नीरस हो जाती है, और इस से उन्हें नैराश्य और उदासीन रहना पड़ता है। इस विषय का हमें गम्भीरता पूर्वक विचार करना चाहिए। मनुष्य-प्राणी के लिए सब से अधिक सुख की और महत्त्व की यदि कोई बात है तो वह यही है कि, जिस काम को वह रोज़मर्रा करता हो उस पर उसका पूरा प्रेम होना चाहिए। उसका व्यवसाय उसे रुचिकर होना चाहिए। सुखी जीवन के इस आवश्यक अङ्ग से मनुष्यों का बड़ा भारी भाग सूखा रह जाता है, इसलिए जीवन की सफलता के और साधन सुलभ होने पर भी, केवल ऊपर वाले एक कारण से मनुष्यों का बड़ा भारी भाग अपने जीवन में निष्फल होता है। बाहरी संयोगों को अपने अनुकूल बना लेने का साधन अभी तक लोगों को प्राप्त नहीं हुआ, इसलिए बहुत से जीवनों का व्यर्थ जाना रोकना समाज की शक्ति से

बाहर की बात है, समाज की सत्ता से दूर की बात है। चाहे यह बात सच हो, पर इस से समाज का उत्तरदायित्व बढ़ता है। ऐसा कोई काम समाज को करना हो न चाहिए जिससे किसी मनुष्य का जीवन व्यर्थ जाना सम्भव हो। मा-बापों की तुच्छ दृष्टि और ना-समझी, युवावस्था में अनुभव का अभाव, मन-चाहे काम को करने में आवश्यक साधनों का अभाव, जिन्हें मन नहीं चाहता उन कामों के करने के अनुकूल साधन—इन सब कारणों से संसार के बहुत से मनुष्य-व्यक्ति अपने जीवन को सफल नहीं कर सकते। अर्थात् जिन कामों में उनका मन लगता है उन्हें वे कर नहीं सकते और जिन्हें करने को उनका मन नहीं चाहता वे उनसे कराये जाते हैं—इसलिए उन के जीवन निष्फल होते हैं। पुरुष-वर्ग के विषय में जितनी ऐसी घटनाएँ घटती हैं, उनके कारणों का हटाना समाज की सत्ता से बाहर की बात है; किन्तु स्त्रियों को जो यह सज़ा भोगनी पड़ती है उसका कारण तो प्रत्यक्ष क़ानून, और क़ानून के समान ही मज़बूत लोक-रूढ़ि है। अवनत और बर्बर देशों में वर्ण-भेद, जाति-भेद, धर्म-भेद आदि से; तथा विजयी और पराजित देशों में जातीयता (Nationality) के भेद से—पुरुषों की सामाजिक और राजनैतिक स्थिति में जैसा अन्तर होता है—वैसा ही अन्तर संसार भर में स्त्रियों की स्थिति (sex) पर है। प्रायः सभी इज़्ज़त-आबरू वाले कामों को

वे स्वाधीनता-पूर्वक नहीं कर सकतीं ;—इस बात को यदि साफ़ शब्दों में कहें तो यह हो सकता है कि, जो काम पुरुषों से नहीं हो सकते या जिन के करने से उन्हें घृणा होती है, उन्हीं कामों के करने को औरतों को पूरी आज़ादी दी गई है। इन बातों से भीतर ही भीतर कितनों को कष्ट भोगना पड़ता हो सो शायद ही किसी के ख़याल में आता हो। इस बात की ओर किसी का ध्यान नहीं जाता कि, इस अमानुषी प्रथा से कितने योग्य जीवन व्यर्थ चले जाते होंगे और संसार को उनसे अणुमात्र भी लाभ नहीं होता। स्त्रियों की शिक्षा का प्रसार जैसे-जैसे अधिक होता जायगा, स्त्रियों के मन जैसे-जैसे विशेष ज्ञान-सम्पन्न और बुद्धिशाली बनते जायँगे—वैसे ही वैसे उनके विचार और उनकी बुद्धि बढ़ेगी। इसका परिणाम यह होगा कि समाज ने स्त्रियों के लिए जिन दरवाज़ों को बन्द कर रक्खा है उनके कारण असङ्गतता का प्रसार होगा और इसके कारण संसार के कष्ट की वृद्धि होगी। रूढ़ि के लिए यही परिणाम होगा।

२२—इस प्रकार मनुष्य-समाज के बिल्कुल आधे भाग को अनधिकारी बना देने से उसको जो प्रत्यक्ष हानि हो रही है वह इस प्रकार है ;—एक तो वे हिम्मत दिलाने वाले और तरक़्क़ी करने वाले व्यक्ति-सुख से वञ्चित रहती हैं ; दूसरे इसके कारण खिन्नता, निरुत्साह होता है और उन्हें जीवन पर तिरस्कार आता है, मन उचटा रहता है। इन सब अनिष्टों

जब हम विचार करते हैं तब हमें यही मालूम होता है कि, मानवी जीवन की अनिवार्य अपूर्णता के कारण उत्पन्न होने वाली कठिनाइयों से भिड़ जाने में वह जिन-जिन बातों पर लक्ष्य रखता है उन में यह एक अत्यन्त महत्त्व का विषय है कि, प्रकृति अपनी ओर से मनुष्य-प्राणी पर जो-जो सङ्कट डालती है, तथा उसके मार्ग में जो-जो विघ्न खड़े करती है—उसमें किसी को अपने दुराग्रह और मत्सर के वश होकर उन सङ्कटों और प्रतिबन्धों की संख्या में और अधिक विशेषता न करनी चाहिए। क्योंकि जिस बात से डर कर वे प्रतिबन्ध डालते हैं वह व्यर्थ और कुछ नहीं के बराबर होता है। जिन बुरे परिणामों के उत्पन्न होने से वे डरते हैं वे कभी उत्पन्न होते ही नहीं, बल्कि इससे उलटे जो दुष्ट परिणाम उनकी कल्पना में घूमा करते हैं, उनसे खराब कुछ और ही परिणाम निकल पड़ते हैं। अपने कार्य या बर्ताव के बुरे फल तो भोगने ही चाहिएँ, इसमें कोई हानि भी नहीं। मनुष्य की व्यावहारिक स्वाधीनता को दाब देने से व्यक्तिसुख का सोता सूख जाता है। जीवन जिन-जिन कारणों से सुखी हो सकता है उनमें शारीरिक आवश्यकताओं के बाद व्यक्तिसुख का ही नाम हो सकता है; किन्तु व्यक्तिस्वाधीनता के नाश कर देने से व्यक्तिसुख की कल्पना ही नहीं होती।

समाप्त।